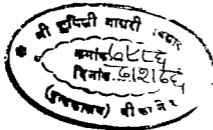
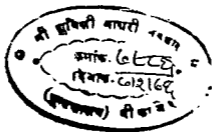


२५२
जीविनिधं



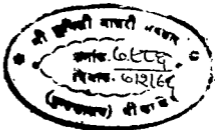
महात्मा गांधी एक मार्क्सवादी परिचर्चा



महात्मा गांधी

शुद्ध
जीवनिधि

क. माक्सवादी परिचर्चा



संस्करण १९७१ (P 123)

राजीवराज्य ७ पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड

संपादन (अध्यायी गण्य गण)

एम. वी. राव

अनुवाद

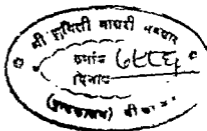
अन्तिम निबन्ध को छोड़, जिसकी हिन्दी
पांडुलिपि स्वयं लेखक ने दी, अन्य
निबन्धों के अनुवादक :

वद्रीनाथ तिवारी

मूल्य : ४ रुपये

न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी भांसी रोड,
नई दिल्ली में डी. पी. सिनहा द्वारा
मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स
पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड,
रानी भांसी रोड, नई दिल्ली, की
तरफ से प्रकाशित ।

२५२
जीवनी



प्रकाशकीय टिप्पणी

महात्मा गांधी अपने जीवन काल में भारतीय राजनीति में सदा एक विवादास्पद ब्यक्तित्व रहे। हर राजनीतिक विचार प्रवाह का, स्वयं उनके अनुयायियों और उत्तराधिकारियों के विचार प्रवाह का भी, किसी न किसी समय, किसी न किसी मुद्दे पर, उनके विचारों और तौर-तरीकों से टकराव हुआ। स्वयं कांग्रेस के भीतर के दक्षिणपंथ (बल्लभभाई) और वामपंथ (जवाहरलाल), दोनों का एकाधिक बार गांधी जी ने उग्र मतभेद रहा। यह सच है कि इसके बावजूद वे साम-साथ निर्वाह करते रहे, परन्तु यह कह सकना कठिन है कि यह कहां तक अवाम पर गांधी जी के जबर्दस्त प्रभाव के कारण था और कहा तक मात्र अवसरवाद के कारण।

धरम दक्षिणपंथी हिन्दू सम्प्रदायवाद ने २१ वर्ष पूर्व महात्मा गांधी को हत्या का शिकार बना कर उनके संबंध में अपना फैसला दे दिया था, जबकि मुस्लिम सम्प्रदायवाद साल भर पहले ही विभाजन द्वारा उन्हें अधमरा कर चुका था। देश के वामपंथी तत्वों में गांधी जी के ब्यक्तित्व के प्रति एक अज्ञाना दुहटा रह रहा है।

कम्युनिस्ट पार्टी भी कई मौकों पर गांधी जी से उग्र रूप से टकरायी। यह उनके विभिन्न सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सकी, न ही साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन में उनकी भूमिका से इनकार कर सकी। दोनों के बीच इस बात को लेकर कटु संघर्ष रहा कि अवाम को कौन अपनी तरफ लायेगा और किस विचारधारा के लिए लायेगा।

गांधी जी के स्वर्गवास के बाद के इन दो दशकों में लोगों के सामने यह माफ हो गया है कि उन्होंने चाहे जो कुछ चाहा हो, पर उनके कुछ सिद्धान्तों के फलस्वरूप, तथा उनके तथाकथित अनुयायियों के ब्यवहार के फलस्वरूप तो निश्चित रूप से, देश गंभीर संकटों में आ फंसा है।

गांधी जी की जन्म शती की स्मृति में और भी अधिक व्यापकता के साथ इस ग्रंथ की योजना बनायी गयी थी। लेकिन अमली राजनीति के कारण तथा कांग्रेस महामिति के बंगलौर अधिवेशन के बाद कांग्रेस के भीतर हान के उलटपेरे के कारण, अनेक लोग जिन्होंने लिखने का आश्वासन दिया था, दूसरे कामों में व्यस्त रहे।

फिर भी हमारा निश्चय है कि कुछ लोग, जिन पर गांधी जी और जनता के प्रश्न का निरूपण करने जाया श्रीमान भगूत दास का योग तथा श्रीनिवास मन्देशाई, मोहित मेन और प्रो. होम मुखर्जी के योग गांधी जी के जीवन-काल की घटनाओं पर कुछ तथा प्रकाश दायेंगे ।

समोद्वेग कान्तिकारी श्री मन्मथनाथ गुप्त के प्रति जिन्होंने कान्तिकारी आन्दोलन की ओर गांधी जी के अत्यधिक विशेष भाव को उभार कर रखा है, श्री गुरेन्द्र गोपाल के प्रति जिन्होंने राष्ट्रमाया के रूप में गांधी जी के हिन्दुस्तानी सिद्धान्त का निरूपण किया है, तथा भदन्त आनन्द कोसलाय के प्रति जिन्होंने अपनी अद्वितीय शैली में गांधी जी के जीवन की कुछ महत्त्व कियों प्रस्तुत की हैं, प्रकाशन गृह भाग्यारी है ।

क्रम

महात्मा की जन्म-शताब्दी धीपाद अमृत हाँसे	...	१
गांधी जी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी थानिवास मरदेसाई	...	७
गांधीवाद : स्वतंत्रता के बाद मोहित सेन	...	५५
एक अद्वितीय नेता हीरेन मुस्वर्जी	...	७३
गांधी जी और १९२५ के बीर के क्रांतिकारी मन्मथनाथ गुप्त	...	८६
भारत की राष्ट्रमाया और गांधी जी सुरेन्द्र गोपाल	...	११६
गांधी जी, जैसा कि मैंने उन्हें जाना भदन्त आनन्द कौसल्यायन	...	१२८

महात्मा की जन्म-शताब्दी

श्रीपाद अमृत डांगे

हमारे देशवासी इस वर्ष अक्टूबर में महात्मा गांधी की जन्म-शताब्दी मना रहे हैं।

जिस समय उनका जन्म हुआ था उस समय भारत अभी भी १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में काम आये वीरों और भारत की पराजय के दुष्परिणामों पर शोक मना रहा था। बच्चे का जन्म उस महान संघर्ष के बारह वर्ष बाद हुआ था और उसका लालन-पालन एक ऐसे सम्पन्न, धर्मनिष्ठ हिन्दू परिवार में हुआ था जो एक ओर भारत के उस हिस्से के वातावरण से सदाबोर था जहाँ ब्रिटिश साम्राज्य के चारूर रजवाड़ों की बहुतायत थी, दूसरी ओर वह गरीबी से प्रताड़ित उस भारत से घिरा हुआ था जहाँ विक्टोरिया-साम्राज्य की श्री-समृद्धि का निर्माण करने में लाखों लोगों ने दुमिर्शों में जाने मवा दी थीं। परिवार की समृद्धि से युवक गांधी को ब्रिटिश साम्राज्य के हृदय-स्थल संदन में शिक्षा के श्रेष्ठतम तत्वों को आत्मसात करने तथा ब्रिटिश कानून के बफादार बकील के रूप में ढलने में मदद मिली।

किन्तु जब वह दक्षिण अफ्रीका गये और वहाँ उसी कानून के आधार पर उत्पीड़ित भारतीयों की बकालत की, तो गोरे शासक वर्ग के जातीय दर्प और डंडों के सामने समानता और समदृष्टि सम्बंधी सारी धारणाएँ काफूर हो गयीं। वहाँ उन्होंने समानता के लिए संघर्ष करने का, मानव गरिमा के लिए झुमने का और नस्लवाद का विरोध करने का पहला पाठ पढ़ा। फिर भी वह साम्राज्य के प्रति बफादार बने रहे। उन दिनों उनके अनुसार वह सम्पत्ता, न्याय और प्रगति का प्रतिनिधित्व करता था। इसलिए जब प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा, तो गांधी जी साम्राज्य के बफादार सेवक थे और साम्राज्य की रक्षा के लिए भारत के युवकों को भर्ती करा रहे थे। इस बात पर मोक्षमान्य तिलक ने उनका मतभेद था। मोक्षमान्य तब तक प्रतिरक्षा के लिए बान करने की सैयार नहीं थे जब तक कि 'होम रूल' की उनकी माग नहीं मान ली जाती। युद्ध समाप्त होने के बाद जब लोग स्वयंभवा और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए सार मवाने लगे और ब्रिटिश शासकों ने पहले तो रजिस्ट ऐक्ट जैसे

निष्पुरुषतम कानूनों द्वारा, और बाद में नोमिनेट क नरमहाराँ और कलेआम (जैसा कि जन्मियावाना भाग में किया गया) तथा विप्लवी पंजाब के शांतिपूर्ण नगरों और गाँवों पर बमबारी द्वारा, जनता को मांग को कुचलना शुरू किया तो गाँवों के भीतर का राजभक्त, ब्रिटिश कानून का बकील और ब्रिटिश न्याय में विद्वान बनने वाला, एक कृतमंजुल कृद विद्रोही में बदल गया जो उसके बाद साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन का महानतम संगठनकर्ता तथा स्वतंत्रता और स्वाधीनता के लिए बगवत में उठ खड़े हुए अग्राम का नेता बना ।

प्रचंड कलना शक्ति और आततायियों के खिलाफ अदम्य आक्रोह के साथ वह जन आन्दोलन के महान नायक के रूप में उभर आये । उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार पैशाचिक सरकार है और उन्होंने उसे पूरी तरह ध्वस्त कर देने का आह्वान किया । जैसा कि वह कहते थे, शैतान और पाप के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता ।

उन्होंने सम्पूर्ण देश के लाखों-करोड़ों लोगों को एकता में बांधने, अनुशासित करने और संघर्ष में उतारने के लिए आज के 'बंद' के पूर्व रूप—अखिल भारतीय हड़तालों—के हथियार का इस्तेमाल किया । उन्होंने बहिष्कार और घरने के नारों के साथ लाखों लोगों को सड़कों-मलियों में उतार दिया, जिसके फल-स्वरूप ब्रिटिश अधिकारियों और उनकी अमन-कानून की शक्तियों से जुझारू मुठभेड़ें हुईं । उन्होंने स्कूली बच्चों से लेकर बड़े-बूढ़ों तक, धनी लोगों से लेकर गरीब किसानों तक, सभी का, पैशाचिक सरकार के विरुद्ध असहयोग करने तथा भारत की ऐक्यवद्ध जनता के विराट संकल्प और संघर्ष द्वारा उसे घरा-शाही कर देने का आह्वान किया । उन्होंने भारतीय जनता का आह्वान किया कि वह सरकार के लिए काम करने, उसके लिए कोई भुगतान करने, उससे कुछ सीखने या उसकी आज्ञा-पालन करने से इनकार कर दे । उन्होंने कांग्रेस को स्वतंत्रता की तथा स्वतंत्रता के लिए ठोस कार्रवाई की कामना करने वाले सभी वर्गों समेत सम्पूर्ण भारतीय जनता के राष्ट्रीय मोर्चे के मंच और संगठन के रूप में निर्मित किया ।

उन्होंने जनता को संघर्ष के लिए उभारने या कभी उसकी गलत कार्रवाई (जैसे हिन्दू-मुस्लिम दंगों) का परिशील करने या अपने अनुयायियों के भटकाव को रोकने के लिए कभी-कभी अपने जीवन तक को खतरे में डाल कर व्यक्तिगत उपवासों को अपने शस्त्रागार में एक नये अस्त्र के रूप में जोड़ा । उनकी जबर्दस्त क्रान्तिकारी प्रतिष्ठा और ईमानदारी के कारण यह व्यक्तिगत अस्त्र कारगर अवश्य होता था, हालांकि सदैव नहीं ।

चम्पारन में अपने संघर्ष में, जो भारत में उनका प्रथम संघर्ष था, उन्होंने भारतीय किसान को तथा ब्रिटिश वागान मालिकों के उत्पीड़न को भी निकट

से देखा। वहाँ उन्होंने नील की खेती करने वालों के आतंक और उत्पन्न
खिलाफ हड़ताल अपना कर अंग्रेजों को पीछे हटने को बाध्य कर दिया। मु-
के तत्काल बाद अहमदाबाद मिसलों के हड़तालियों का नेतृत्व करते हुए उन्होंने
मजदूरों को, बलिदान करने, कष्ट भोगने और सघर्ष करने की उनकी धमती
को तथा उन सख्तपतियों की लोलुपता और स्वार्थपरायणता को भी देखा था
जिनसे वह यह आशा करते थे कि वे स्वयं उनके और मजदूरों के कष्टों तथा
“ईस्वरेच्छा” को देख कर शांत और नरम पड़ेंगे।

किन्तु अपने मुख्य लक्ष्य का अनुसरण करने के लिए उन्होंने अपने सघर्ष
के इन पहलुओं का परित्याग कर दिया और अपने असहयोग संग्राम के ठीक
पूर्व, प्रसिद्ध लेख “वेर ने अमान फहराया” लिखा और बारदोली कूच करते
हुए इस संग्राम को “महाकाल का नृत्य” कहा।

चोरी-चोरा के निरस्त्र किसानों पर गोली चलाने वाले चंद पुतिसर्मनों
की हत्या से महात्मा जी ने संतुलन खो दिया और उन्होंने अपने “महाकाल के
नृत्य” को वापस ले लिया तथा “वेर” छह वर्ष की सजा के साथ ब्रिटिश
कारागार में दायित्व हो गया। उन्होंने यह आग्रह किया कि जहाँ जनता का
प्रतिरोध न्यायपूर्ण और शमीचीन तथा उत्पीड़नकर्ता अत्यायपूर्ण और गलत हो,
वहाँ जो साम्राज्य की दुष्कृति का हनन अहिंसा द्वारा ही किया जाना चाहिए।

ऐसे बहुत से लोग, जो उनके दर्शन के उत्तराधिकारी होने का दावा करते
हैं और जिन्होंने सत्ता और धन अर्जित करने के लिए उनके नाम तथा उनके
खलापे गये महान संघर्षों की प्रतिष्ठा का उपयोग किया है, तिरकं उनकी अहिंसा
का, या विह्वलाश्रों के प्रति उनकी नरमी का, या ईस्वर, धर्म और धरमे के प्रति
उनकी निष्ठा का ही, राग बलापते हैं।

किन्तु यह याद रखना जरूरी है कि जहाँ महात्मा गांधी ने जनता के उग्र
रूप अपना लेने के कारण १९२१ में अपना आन्दोलन वापस ले लिया था,
वही १९३० और १९४२ के संघर्षों का सूत्रपात और नेतृत्व करने के बाद,
जिनके फलस्वरूप अन्ततः भारत आजाद हुआ, उन्होंने यह गलती कभी नहीं
दुहरायी।

इस नये काल में जब कभी ब्रिटिश उरपीड़कों का सामना जनता के हाथों
उग्र या बुभारु प्रतिरोध से पड़ जाना और वे महात्मा जी ने जनता की
भर्त्सना करने को कहते, तो वह अपने अहिंसा के दर्शन का पालन करते हुए भी
ऐसा करते से इनकार कर देने और जन-प्रतिरोध का रोप सीधे ब्रिटिश शासन
वर्ग की “सिंहवर् हिंसा” के माथे मड़ देते।

महात्मा जी की जन्म-दास्यो पर सारे उरपीड़ित जनता को उनके विम
असाधारण गुण को अवश्य स्मरण रखना चाहिए, वह है साम्राज्यवाद के प्रति

उनका तीव्र विरोध-भाव, जनता के संघटन और सक्रिय प्रतिरोध के प्रति उनका महारा लगान, जो कुछ भी उदात्तजनकारी, अमानवजनक और अमानवीय है उसके प्रति उनकी तीव्र धृष्टता। उनका कहना था कि सुराई का सक्रियता के साथ प्रतिरोध किया जाना चाहिए, न कि उसके मामले निष्क्रिय होकर घुटने टेक दिने जाने चाहिए।

एक दूरदर्शी व्यक्ति की तरह उन्होंने साम्राज्यवाद का प्रतिरोध करने तथा भारतीय जनता को विभाजित करने की उमकी गाल को विकल्प करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता को भारत की राजनीतिक और सामाजिक एकता का मूल नारा बनाया।

एक महान मानवतावादी के रूप में उन्होंने अस्पृश्यता के उन्मूलन का आह्वान किया, हालांकि एक घर्मनिष्ठ हिन्दू की तरह वह हिन्दू समाज के वर्ण विभाजन में विश्वास करते थे, जैसा कि हिन्दू मानवतावाद के अनेक संत उनसे पहले कर चुके थे और शोषक वर्गों और जातियों के हाथ प्रतारणा भेज चुके थे।

आरम्भ में हालांकि उन्होंने भारत को दस्तकारी और ग्राम्य जीवन के प्राचीन संसार में फिर से प्रतिष्ठित कर देने और आधुनिक मशीनों के संसार को मिटा देने का स्वप्न देखा था, पर शीघ्र ही उन्होंने अतीत में वापसी के विचार का परित्याग कर दिया तथा आधुनिक उद्योग-वंधों का निर्माण करने, उद्योगपतियों के लिए अच्छी विनिमय दर और सुरक्षा प्राप्त करने में भी मदद की—वशत वे स्वाधीनता प्राप्त करने में उनकी मदद करें।

जब वह जीवित थे और कांग्रेस का नेतृत्व कर रहे थे, उस समय भी कम्युनिस्टों, कांग्रेस सोशलिस्टों आदि जैसे अनेक लोग थे जो उनसे, उनके दर्शन से, उनके कुछ वर्ग गठबंधनों और उनके तरीकों से मतभेद रखते थे। तब भी वे सभी उस महान राष्ट्रीय मोर्चे में काम करते रहे, जिसका प्रतीक कांग्रेस थी और जिसको महात्मा जी ने मुख्यतः स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए जन संघर्ष और नेतृत्व के साधन के रूप में निमित्त किया था।

जैसे-जैसे संघर्ष के तरीकों और कार्यनीति के प्रश्नों पर मतभेद बढ़ते गये, उन दिनों के अनुदारपंथियों ने उन नयी चिंतन-धाराओं और नयी पार्टियों को कांग्रेस और आन्दोलन के भीतर बने रहने देने पर पाबंदी की मांग की।

किन्तु महात्मा गांधी ने ऐसे मतभेदों के आधार पर कांग्रेस में ऐसी पार्टियों या समूहों पर प्रतिरोध लगाने की मंजूरी देने से इनकार कर दिया। वह न केवल अनुदारपंथ से लड़े, बल्कि उन्होंने अपने अनुयायियों में व्याप्त पद और सत्ता की लोलुपता से भी लोहा लिया और जहां कहीं उनमें भ्रष्टाचार दिखायी

1, उसका पर्दाफाश किया।

महात्मा गांधी रूस के महान मानवतावादी, जनवादी और साम्राज्यवाद-विरोधी मेव सोल्स्तोय के प्रशंसक थे और इससे प्रेरित होकर उन्होंने १९०५ की शान्ति की संधि सुनने पर उनकी सफलता की कामना की। हालांकि वह बोल्शेविकों के अनीस्वरवाद को पसन्द नहीं करते थे, फिर भी उन्होंने उन लोगों का साथ नहीं दिया जिन्होंने साम्राज्यवादियों के साथ मिल कर १९१७ की महान अखनूबर क्रान्ति की निन्दा की थी।

महात्मा गांधी के अनेक कार्यों और विचारों ने नवमान-विरोधी रूप जरूर ग्रहण कर लिया था, पर उसके बादजुद वह संसार के महानतम साम्राज्यवाद-विरोधी योद्धाओं में से थे, मानव जाति के इतिहास के महानतम मानवता-वादियों में से थे, तथा, निश्चय ही, स्वतंत्रता और स्वाधीनता के लिए भारतीय शान्ति के महानतम नेताओं में से थे।

इन्हीं बानों से हमें उनके जन्म की शताब्दी इस प्रकार मनाने के लिए प्रेरित होना चाहिए, जिससे उन लोगों की स्मृतिया पुनर्जीवित हो उठें जिन्होंने स्वतंत्रता के लिए लड़ते हुए, नस्लवाद के खिलाफ, अमानता और उत्पीड़न के खिलाफ, छुआछूत, जनता में विभाजन और कूट के खिलाफ तथा व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन की शुद्धता के लिए लड़ते हुए अपने प्राण गंवाये।

उन्होंने जिस जंगल तरीके से राज्य सत्ता और धन के विकराल ब्यूह की उपेक्षा की, जिस तरह वह मानव की और सत्ता और पर गरीबों की, दरिद्र-नारायण और उत्पीड़ितों की गरिमा के लिए लड़े, उसे पुनर्जीवित करना जरूरी है। वह सबसे बड़ कर श्रम के गौरव के समर्पक थे और इसी के प्रतीक के रूप में वह प्रति दिन सूत कातते थे।

आज हम सभी को स्वाधीनता की विरामत को और आगे बढ़ाते हुए समाज-वाद के लिए लड़ना चाहिए क्योंकि इसी से धनकुचेरों की सत्ता का अंतिम निन्धे होगा तथा उन लाखों-करोड़ों मेहनतकारों की सत्ता की पुष्टि होगी जो स्वतंत्र भारत के खेतों और कारखानों में शरीर और मस्तिष्क के श्रम के आधार पर जीवन बिना रहे हैं।

महात्मा गांधी का जन्म १८६९ में हुआ था जिस समय भारत के स्वाधीनता संग्राम की दक्षिण सीढ़ें हट रही थीं और योरप पर उस फ्रांस-जर्मन युद्ध की काली छाया पड़ने लगी थी, जिसके बाद साम्राज्यवाद पुणित-पल्लवित हुआ था और इसने संपूर्ण विश्व को आक्रांत कर लिया था।

किन्तु १९४८ में जब उनकी मृत्यु हुई, उस समय साम्राज्यवाद पीछे हट रहा था, एक-तिहाई संसार समाजवादी बन चुका था तथा औपनिवेशिक साम्राज्य बह रहे थे। उन्होंने भारत जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण भूखंड में साम्राज्य-वाद-विरोधी शान्ति में महान भूमिका अदा की और अन्त में एक दुष्ट हत्यारे

ने प्रमत्त और अनमत्त की कल्पना की जिसमें आत्म के और ज्ञान के प्रकाश की
अवस्था करने के लिये उद्देश्य में समझी गया है ।

आत्म, समझी अन्तःस्थानी के रूप में हमें समझना है कि मनुष्य
मानस में जो कुछ भी अज्ञानकारी और अनमत्त, अज्ञानकारी और अज्ञान के
रूप में बाधों का, मानसिक और नैतिक, चित्तवृत्त और आत्मज्ञान का, उसे
हम आगे बढ़ाएंगे ।

गांधी जी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी श्रीनिवास सरदेसाई

महात्मा गांधी और भारतीय कम्युनिस्टों के सम्बंध, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा प्रथम विश्व युद्ध के बाद असहयोग आंदोलन के उनके नेतृत्व से लेकर १९४८ में उनकी दुःखद मृत्यु तक, अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरे हैं।

यै भारतीय कम्युनिस्ट शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि, हालांकि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना १९२५ में हुई थी, फिर भी एम. एन. राय ने १९२० से ही गांधी जी तथा उनके नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन का कम्युनिस्ट मूल्यांकन करना और उस आन्दोलन के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण निर्धारित करना शुरू कर दिया था। श्रीपाद अमृत डागे ने यही कार्य १९२१-२२ से शुरू किया था।

यह कहना अधिक सही होगा कि यह प्रक्रिया १९२० में कम्युनिस्ट इंटर-नेशनल ने शुरू की थी। उसी वर्ष आयोजित कॉमिन्टर्न की दूसरी कांग्रेस में औपनिवेशिक प्रश्न पर हुए विचार-विमर्श में राय ने सक्रिय भाग लिया था। १९३५ में हुई उसकी अंतिम कांग्रेस के सिवा, और सभी में भारतीय कम्युनिस्ट, उदाहरणार्थ अवनी मुखर्जी, कॉमिन्टर्न के भारत संबंधी विचार-विमर्शों और निर्णयों में भाग लेते रहे।

संबंधों के उलट-फेर की चर्चा हम आगे करेंगे। किन्तु अगर आरम्भ में ही कुछ मूल तथ्य और मुद्दे कह दिये जायें तो वे बाद की बातों को समझने में सहायक होंगे।

: १ :

प्रथमतः, सारे उलट-फेरों के दौरान और उन उलट-फेरों के बावजूद हम कम्युनिस्टों में महात्मा गांधी के मूलभूत विचारधारात्मक सिद्धान्तों के प्रति एक गहरी वितृष्णा बनी रही। इसका कारण केवल यह नहीं था कि उनमें मध्ययुगीनता और रहस्यवादिता भी हुई थी, बल्कि यह भी कि व्यावहारिक

राजनीति में उनका अर्थ या साक्षात्कार, सामग्री और भारतीय पूँजीवादी हितों के साथ अर्थव्यवस्थाओं के साथ, जिसके देश में राष्ट्रीय क्रान्तिकारी शक्तियों के पूर्ण विकास में बाधा पहुँचि थी।

इसी तरह, हालांकि गांधी जी की ईमानदारी के साथ यह अर्थ देना पड़ेगा कि उन्होंने न तो कम्युनिस्टों या कम्युनिस्ट पार्टी के विनाशक समनवादी कदमों की कभी मांग की, और न ऐसे कदमों की स्वीकृति देकराया। वास्तव में वह भारतीय कम्युनिस्टों के प्रति एक अतिशय अंतर्गत रहे कि वे समर्पित किन्तु गुमराह भीतरवान थे। फिर भी उनके प्रति हम लोगों की जो मृतभूत विवृण्णा थी उसके 'जवाब' में उनमें भी मार्क्सवाद के प्रति, उनके संघर्ष की अवधारणा मान के प्रति और इसी कारण हम लोगों के प्रति, वैसी ही विवृण्णा में घर कर लिया था।

हमारे, सारे उलट-फेरों के दौरान और इन उलट-फेरों के बावजूद, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कभी गांधी जी और गांधीवाद की उनके समन्वित रूप में ग्रहण नहीं कर सकी। वह इस प्रकार की पकड़ में गड़ा था कि वह निरन्तर रहे और इन अर्थ में हमारी सारी आवश्यकता के बावजूद वह हमारे लिए एक पहली बने रहे।

आगिरकार राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन में गांधी जी और उनकी भूमिका को समझने के हमारे प्रयास का आधारभूत उद्देश्य यह था कि उनके नेतृत्व में चलने वाले जन-आन्दोलन के साथ ऐसे संबंध स्थापित हिये जायें जो उसके वैचारिक आवरण को फाड़ देने तथा गांधी जी के प्रभाव में आने वाले लाखों लोगों को सच्चे क्रान्तिकारी संघर्ष की दिशा में बढ़ा सकने में सहायक हों।

क्या हम ऐसा करने में सफल हो सके? बहुत ही नाकाफी और आंशिक तौर पर ही। इसी अर्थ में—पूर्णतर क्रान्तिकारी, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अर्थ में—यह स्वीकार करना जरूरी है कि हम गांधी जी के विचारों और नीतियों को समझने की जो कोशिशें करते रहे, वह उनसे बच निकलते रहे।

तीसरे, क्या इसका यह अर्थ है कि गांधी जी और उनकी भूमिका का हमारा मूल्यांकन 'सर्वथा गलत' था? क्या इसका यह अर्थ है कि इतिहास की कसौटी पर वह आदि से अन्त तक सही साबित हुए, और हम गलत?

इन सवालों का जवाब साफ-साफ 'नहीं' में होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन के गांधी जी के निर्विवाद नेतृत्व के संपूर्ण काल में हमारी यही दलील रही है कि गांधी जी की ईमानदारी और उनके विश्वासों के बावजूद वह और उनका नेतृत्व सारतः और अंतिम विश्लेषण में राष्ट्रीय पूँजीवादी नेतृत्व था। अनुभव से और गांधी जी के नेतृत्व में हासिल की गयी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के चरित्र से, अर्थात् स्वतंत्र भारत की राज्यसत्ता के वर्ग चरित्र से, इस दलील की पूर्ण पुष्टि हो चुकी है।

यही नहीं। हम उस समूचे काल में यह दलील भी देते रहे कि हमारे देश में राष्ट्रीय-जनवादी क्रान्ति की सफल चरम परिणति के लिए यह जरूरी है कि भारतीय मजदूर वर्ग एक स्वतंत्र वर्ग शक्ति के रूप में विकसित हो और उसका वाकिर्भाव राष्ट्रीय क्रान्ति के नेता, नामक, के रूप में हो। यह दलील भी सही साबित हुई है, हालांकि बदकिस्मती से नकारात्मक रूप में, अर्थात् हमारे स्वातंत्र्य आन्दोलन में जिस सर्वहारा नेतृत्व का निर्माण करने की आवश्यकता थी, उसमें हमारी असफलता के कारण हमें ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त हुई जिसका चरित्र पूंजीवादी था और जो साम्राज्यवादी तथा भारतीय सामंती हितों के साथ अनेक समझौतों पर टिकी हुई थी।

गांधी जी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के बीच आदि से अन्त तक मतभेद की जड़ यही थी—और दोनों ही इसके प्रति गहराई से और समान रूप से सचेत थे—कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय पूंजीवादी नेतृत्व को राष्ट्रीय आन्दोलन में नेतृत्वकारी स्थिति से अपदस्थ करने और उसके स्थान पर मजदूर वर्ग का नेतृत्व स्थापित करने के लिए आद्योपान्त समर्पण रही, ताकि सर्वोद्योग और सफल राष्ट्रीय-जनवादी क्रान्ति सम्पन्न हो सके।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की गलती यह नहीं थी कि उसने अपने और राष्ट्रीय आन्दोलन के समक्ष यह लक्ष्य रखा। उसकी गलती यह नहीं थी कि उसने इस लक्ष्य को यथार्थ में उतारने के लिए संघर्ष किया—और वह भी, उसके सदस्य इस लक्ष्य के लिए जितना उत्साह दिखा सकते थे और जितना उत्सर्ग कर सकते थे उतने सारे उत्साह और उत्सर्ग के साथ किया।

अगर यह प्रयास ही गलत था तो इस बात की सफाई दे सकना असंभव है कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी देश के स्वतंत्र होने तक भारतीय राजनीति में बढ़ कर कैसे इतनी बजनदार ताकत बन गयी, क्योंकि सर्वथा अलग-अलग कारणों से ही सही, आदि से अन्त तक ब्रिटिश शासकों और गांधी जी से भी उसका संघर्ष ही बना रहा। अगर राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधी जी की तथा अपने दायित्व की हमारी समझदारी बुनियादी तौर पर गलत थी तो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय मजदूर वर्ग की तथा भारतीय किसानों के बड़े हिस्से की इतनी प्रभावशाली नेता नहीं बन गयी होती और भारत के क्रान्तिकारी युवा वर्ग का श्रेष्ठतम हिस्सा हमारी पार्टी में न आया होता।

गलती यह थी कि अपने दायित्व की भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की समझदारी अपरिपक्व, एकांगी और अतिसरलीकृत थी; गलती यह थी कि इतिहास ने उस पर जो दायित्व ढाला था, उसकी जटिलताओं को समझने में वह असफल रही। और, इसी में हम बात का अर्थ और व्याख्या निहित है कि गांधी जी क्यों भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के लिए एक पहेली सिद्ध हुए।

यह निश्चय है कि वर्जिन के रूप में जो एंग्लो की एक भागीदार प्रति-
स्पर्धिका है, कि-तु यह सम्भव है कि-तु वह जहाँ ही भी जायगी कि यहाँ जो भी
भूमिका की पूर्ण-तः प्रत्यक्ष रूप में वह जहाँ जहाँ जायगी प्रत्यक्ष रूप में
मेरे सम्बन्ध में पूर्ण-तः प्रत्यक्ष रूप में भूमिका की पूर्ण-तः प्रत्यक्ष रूप में
हमारी ध्यान-केंद्र-अवस्था में निहित है।

उस समय में हम यहाँ की पूर्ण-तः प्रत्यक्ष रूप में जायगी है कि लेनिन
कृतियों में, तथा १९२० में हुई कॉमिन्टर्न की दूसरी बैठक में प्रस्तुत किए
उनके सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय तथा औपनिवेशिक प्रश्नों पर प्रकाशनाओं के आरंभिक
मसविद्या में, एशिया में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्गों के उदय-आन्दोलन के बारे में
तथा उन नीतियों के बारे में भी गहन-तः विचार-की गई आधार-तः प्रत्यक्ष रूप में
जिसका कम्युनिस्टों की एशियाई देशों में पूंजीवादी-नेतृत्व के नेतृत्व में
रहे राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन के प्रति अनुसरण करना चाहिए।

मई १९१३ में लिगे गये विप्लव और समुन्नत एशिया की
प्रसिद्ध लेख में लेनिन ने प्रतिक्रिया के पक्ष में गये योरोपीय पूंजीपति
की भूमिका तथा एशियायी पूंजीपति वर्गों की भूमिका में अगमानता प्रस्तुत
थी। उन्होंने कहा था : "एशिया में हर जगह एक जबर्दस्त आन्दोलन बढ़
रहा है, फैल रहा है और सक्रिय हो रहा है। वहाँ अभी भी पूंजीपति वर्ग प्रति-
के खिलाफ जनता का पक्ष ले रहा है। अरबों लोगों में जीवन, आलोक-
स्वतंत्रता की जागृति फैल रही है।" (जॉर्ज मूल में—श्री.स.)।

लेनिन द्वारा तिलक और सन यात-सेन को अपित की गयी श्रद्धांजलि
सुविख्यात हैं। उनकी अन्य कृतियों में ऐसे अनेक प्रसंग उद्धृत किये जा स
हैं जो स्पष्टतः प्रमाणित कर देते हैं कि उनका यह मूल्यांकन कतई नैर्भि-
या अल्पकालिक नहीं था। और रूसी क्रान्ति के बाद भी वह इसी भावना
अन्तर्गत लिखते रहे।

सबसे स्पष्ट प्रमाण तो निश्चय ही १९२० में कॉमिन्टर्न की दूसरी कां-
में उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर प्र-
पनाओं का आरंभिक मसविदा है।

उसमें उन पिछड़े राज्यों और राष्ट्रों के संदर्भ में, जहाँ सामंती या पितृ-
सत्तात्मक या पितृसत्तात्मक-कृषक संबंध प्रबल थे, लेनिन ने कहा है : "इस बात
को स्मरण रखना खास तौर पर महत्वपूर्ण है : पहला : इन देशों में सारी
कम्युनिस्ट पार्टियों को पूंजीवादी-जनवादी मुक्ति आन्दोलन में अवश्य सहायक
बनना चाहिए...।"

क्या इसका यह अर्थ है कि लेनिन को राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के बारे में कोई भ्रम था, कि वह पराधीन देशों के कम्युनिस्टों को यह सलाह दे रहे थे कि वे पूंजीवादी-जनवादी स्वातंत्र्य आन्दोलनों में विहीन हो जायें और अपनी पहचान तुप्त कर दें ? तबिक भी नहीं ! क्योंकि उन्हीं प्रस्थापनाओं में निम्नलिखित अनुच्छेद भी है :

“पाचवाँ : पिछड़े देशों में पूंजीवादी-जनवादी मुक्ति की घागाओं को कम्युनिस्ट रंग देने की कोशिशों के खिलाफ कृतसंकल्प सघर्ष की आवश्यकता : कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को औपनिवेशिक और पिछड़े देशों में पूंजीवादी-जनवादी राष्ट्रीय आन्दोलनों को मात्र इस शर्त पर समर्थन देना चाहिए कि इन देशों में उन भावी सर्वहारा पार्टियों के तत्वों को, जो नाम मात्र में कम्युनिस्ट नहीं होंगी, समुक्त किया जाता है और अपने विशेष दायित्वों को—स्वयं अपने राष्ट्रों के भीतर पूंजीवादी-जनवादी आन्दोलनों के खिलाफ संघर्ष के दायित्वों को—समझने का प्रदर्शन दिया जाता है । कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को औपनिवेशिक और पिछड़े देशों में पूंजीवादी-जनवाद के माध्य अस्थायी मैत्री स्थापित करनी चाहिए किन्तु उसमें विलीन नहीं होना चाहिए, तथा चाहे सर्वहारा आन्दोलन सर्वथा भ्रूण अवस्था में ही क्यों न हो, उसकी स्वाधीनता की हर हालत में रक्षा करनी चाहिए ।”

इसलिए इस बात का स्वागत ही नहीं उठता कि लेनिन ने राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का अतिरंजित मूल्यांकन किया था, उसकी समझौतापरस्त प्रवृत्तियों से लड़ने, स्वतंत्र, कम्युनिस्ट, सर्वहारा पार्टियों का संगठन करने, मजदूर-किसान आन्दोलन निमित्त करने आदि के दायित्वों को घटा कर आका था ।

मूल मुद्दा यह है कि लेनिन ने राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की दुहरी भूमिका को—जनता को सामूहिक, साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के लिए उद्बोधित करने तथा साथ ही उन्हें विषम्वित भी रखने की भूमिका को; साम्राज्यवादी प्रभुत्व का प्रतिरोध करने तथा साथ ही उसके साथ समझौता भी करने की भूमिका को; लोकप्रिय मांगों का समर्थन करने तथा साथ ही उनसे दगाबाजी करने की भूमिका को—साफ-साफ समझा और उसे अत्यधिक महत्व दिया ।

लेनिन ने राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की भूमिका के इन दोनों पहलुओं को यथार्थ, दृष्टिदास-निर्घोरित पहलू माना । उन्होंने किसी भी एक पहलू को सिद्धांत रूप में, अथवा व्यावहारिक नीति के मामलों में, अस्वीकार नहीं किया ।

इसी कारण एक ही प्रस्थापना में उन्होंने “पूंजीवादी-जनवादी मुक्ति आंदोलन के सहायक होने” के कम्युनिस्ट पार्टियों के (अनिवार्य) कर्तव्य की

तथा "पिछड़े देशों में पूंजीवादी-जनवादी मुक्ति की साराओं का कम्युनिस्ट रंग देने की कोशिशों के विनाश कृतगंकला संघर्ष की आवश्यकता" की चर्चा की। इसी कारण उन्होंने "ओपनिवैजिक और पिछड़े देशों में पूंजीवादी-जनवाद के साथ अस्थायी मैत्री करने", पर "उसमें विलीन न होने" की चर्चा की।

इस बात को भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि लेनिन ने यह कहीं नहीं कहा है कि पिछड़े और पराधीन देशों में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की यह दुहरी भूमिका राष्ट्रीय जनवादी क्रांति के पूर्ण होने तक बनी रहेगी।

पूंजीवादी नेतृत्व पर राष्ट्रीय जनवादी क्रांति के हावी हो जाने के तात्कालिक, उत्कट और भयावह "खतरे" का सामना आ पड़ने पर (यह खतरा संघर्ष देश में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सर्वतोमुखी मजदूर-किसान मोर्चे के निर्मित होने के साथ पैदा हो जाता है) राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग मुख्यतः प्रतिक्रांति के पक्ष में चला जाता है।

किन्तु यह भी समानतः सही है कि लेनिन राष्ट्रीय पूंजीवादी नेतृत्व और साम्राज्यवाद के बीच हर समझौते को उक्त नेतृत्व के प्रतिक्रान्ति के पक्ष में चले जाने का पर्याय मानने की जल्दी में नहीं थे। वह ऐसे हर समझौते को राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की विरोध-पक्षीय, साम्राज्यवाद-विरोधी भूमिका की समाप्ति कह कर लांछित करने की जल्दी में नहीं थे। वह हर समझौते को राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग द्वारा अंतिम गढ़ारी और आत्मसमर्पण करार देने की जल्दी में नहीं थे।

भारत पर, तथा हमारे देश के प्रथम विश्व युद्ध के बाद के जन-उभार पर, लागू करने पर लेनिन के इस विश्लेषण और मूल्यांकन का क्या अर्थ था ?

मुझे ऐसा कोई प्रसंग देखने को नहीं मिलता है जिसमें लेनिन ने महात्मा गांधी या उनके नेतृत्व में चलने वाले आंदोलन का प्रत्यक्ष उल्लेख किया हो। किन्तु यह साबित करने के लिए पर्याप्त से भी अधिक साक्ष्य हैं (जिन्हें मैंने अपनी पुस्तिका भारत और रूसी क्रांति में प्रस्तुत किया है) कि वह यह चाहते थे कि नये-नये भारतीय कम्युनिस्ट गांधी जी और उनके नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन के प्रति सकारात्मक दृष्टि से आलोचनात्मक रवैया अख्तियार करें।

एम. एन. राय के संस्मरणों से यह तथ्य अत्यंत स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है—हालांकि राय, जैसा कि सुविदित है, कॉमिन्टर्न की दूसरी कांग्रेस में 'वामपंथ' की ओर अत्यधिक उन्मुख थे। इसके अलावा भी बहुत-सा अन्य साक्ष्य है।

मेरे विचार से लेनिन, गांधी जी और उनकी भूमिका के बारे में आनन-फानन 'प्रस्थापनाएं' पेश कर देने को जो तैयार नहीं थे, उसका कारण यह था कि वह गांधी जी और उनकी नीतियों के जटिल और दुहरे स्वरूप के प्रति गह-

राई ने सचेत थे। साम्राज्यवादी शक्तियों की पूर्ण घेराबंदी में जकड़े हस्त में विनाश और जटिल भारतीय समस्या की विशिष्टताओं के बारे में जितनी तथ्यात्मक सूचना सुलभ थी, लेनिन उमसे नहीं और अधिक सूचना चाहते थे। वह इस बात के प्रति सचेत थे कि अगर वह उतावलेपन में एक इकहरी प्रस्थापना पेश कर देंगे तो इससे खतरा है कि अंकुरित हो रहे भारतीय श्रान्तिकारी या तो संकीर्णतावादी या सुधारवादी दिशाओं में भटक जायेंगे।

और जब लेनिन ने देखा कि दूगरी कांग्रेस में मौजूद सबसे विभ्रुत कम्युनिस्ट एम. एन. राय गांधी जी की पुराणपंथी सामाजिक विचारधारा पर गला गढ़ कर, शोर मचा कर, गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले जन-आन्दोलन के प्रति संकीर्णतावादी दृष्टिकोण की दिशा में भटक रहे हैं, तब उन्हें झिड़क कर उन्होंने यह कहा कि आप गांधी जी के सामाजिक दर्शन से ज्यादा, गांधीवादी नेतृत्व में अग्रिम को आगे ले जाने के बारे में सोचिए।

: ३ :

प्रसंगान्तर का कुछ जोखिम लेकर भी यहाँ यह सवाल उठा देना जरूरी है कि पिछड़े देशों में उत्पीड़न और शोषण के खिलाफ जन-विरोध के उभार तथा विरोध की इन भावनाओं की अभिव्यक्ति के सामान्य वैचारिक रूपों के बीच संबंध की समस्या का लेनिन ने कैसे निरूपण किया है।

मैं तो पीछे मुड़ कर एग्रेस के जर्मनी में किसान युद्ध तक बढ़ जाना चाहूँगा, जिसमें इस बात की ज्वलंत व्याख्या की गयी है कि योरप में कैसे और क्यों मध्ययुगीन किसान विद्रोह धार्मिक आवरण में तथा वाइबिल के भूल पाठ की मूलतः भिन्न व्याख्या करते हुए फूट पड़े थे। ऐसा ही कुछ भारत के कुछ भागों में तेरहवीं और अठारहवीं सदियों में हुआ था।

लेनिन ने कैसे और क्यों तोल्स्तोय को रूसी क्रान्ति का दर्पण कहा? दरअसल अपने सुप्रसिद्ध लेख के प्रथम वाक्य में ही लेनिन ने सवाल उठाया है और जवाब का संकेत किया है: "यदि इस महान कलाकार का उस क्रान्ति के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है जिसे वह प्रकटतः नहीं समझते और जिससे वह प्रकटतः दूर थे, तो पहली नजर में यह अद्भुत और बनाबटी प्रतीत हो सकता है। ऐसे दर्पण को मुद्दिकल से ही दर्पण पुकारा जा सकता है जो चीजों को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित न करता हो। किंतु हमारी क्रान्ति अत्यंत जटिल चीज है।"

इसके बाद लेनिन ने तोल्स्तोय के अंतर्विरोधों का चरित्र अंकित किया है। इनमें से एक का उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है: "एक ओर सौम्यतम

प्रभाभंवार, गारे गुप्तीयों का द्विन्न-भिन्न कर दिया जाना; दूसरी ओर, घरती की एक मरने निन्दनीय चीज अर्थात् मरने का उपदेश।...

सारे लेनिन इन अन्तर्विरोधों की व्याख्या करते हैं :

“किन्तु तोल्स्तोय के विचारों और निदान्तों के अंतर्विरोध आकस्मिक नहीं हैं; वे उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम तृतीयांश के रूसी जीवन की अंतर्विरोधी परिस्थितियों को अभिव्यक्त करते हैं।... तोल्स्तोय के विचारों के अंतर्विरोधों का मूल्यांकन आज के मजदूर वर्ग आंदोलन और आज के समाजवाद के दृष्टिकोण से नहीं (ऐसे मूल्यांकन की वस्तुतः जरूरत है, पर वह काफी नहीं है), बल्कि आगे बढ़ते हुए पूंजीवाद के खिलाफ, उस अवाम के विनष्ट किये जाने के खिलाफ जिसे उसकी जमीन से वंचित कर दिया जा रहा है, विरोध की अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए—विरोध का ऐसा स्वर जिसे पितृसत्तात्मक रूसी ग्रामांचल से उभरना पड़ा।”

और आगे :

“तोल्स्तोय उन विचारों और भावनाओं के महान प्रवक्ता हैं जो रूसी किसानों में उस समय आविर्भूत हुए थे जब रूस में पूंजीवादी क्रान्ति समीप आ रही थी। तोल्स्तोय मौलिक हैं, क्योंकि समष्टि रूप में उनके संपूर्ण विचार कृपक पूंजीवादी क्रान्ति के रूप में हमारी क्रान्ति के विशिष्ट पहलुओं को अभिव्यक्त करते हैं। इस दृष्टिकोण से तोल्स्तोय के विचारों के अंतर्विरोध सचमुच उन अंतर्विरोधपूर्ण परिस्थितियों के दर्पण हैं जिनके बीच किसान वर्ग को हमारी क्रान्ति में अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा करनी पड़ी।... निस्संदेह, तोल्स्तोय की रचनाओं का संदेश अमूर्त ‘ईसाई अराजकतावाद’ की अपेक्षा, जैसा कि उनके विचारों की ‘प्रणाली’ को कभी-कभी मूल्यांकित किया जाता है, इस किसान सक्रियता के अधिब अनुरूप है।”

“दूसरी ओर, नयी जीवन-पद्धति की दिशा में क्रियाशील किसान वर्ग के पास इस बात की अत्यंत अपरिष्कृत, पितृसत्तात्मक, अर्ध-धार्मिक धारणा थी कि यह जीवन किस प्रकार का होना चाहिए, किस संघर्ष द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है, इस संघर्ष में कौन उसके नेता बन सकें हैं। जमींदारी के उन्मूलन के लिए जारशाही शासन का बलात् उखा फेंका जाना क्यों जरूरी है।”

और इसके बाद लेनिन कहते हैं कि “तोल्स्तोय के विचारों” के “ज्वल

अंतर्विरोध" "हमारी क्रान्ति की", किसान विद्रोह की, "खामियों और कम-जोरियों को" परिलक्षित करते हैं।

यहाँ हम देखते हैं कि किस प्रकार लेनिन तोल्स्तोय के विचारों के प्रति-क्रियावादी स्वरूप के प्रति, जो "समष्टि रूप में हानिकर" है, केवल मात्र रियायत किये बिना उनकी ऐतिहासिक अन्तर्वस्तु और उनकी अवधारणात्मक अन्तर्वस्तु के बीच अन्तर को भी उद्घाटित कर देते हैं।

गांधी जी कई दृष्टियों से तोल्स्तोयवादी थे। वस्तुतः यह तोल्स्तोय को अपना गुरु मानते थे। पर एक महत्वपूर्ण अर्थ में दोनों में अत्यधिक अन्तर था। तोल्स्तोय कभी राजनीतिक जन-नेता नहीं रहे, न कभी उनसे की कोशिश की। गांधी जी अपने सारे धार्मिक, रहस्यवादी, आध्यात्मिक, "ईश्वर ही प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है" के कबाड़ के बावजूद, अन्तरतम तक एक राजनीतिक जन-नेता थे।

और अगर लेनिन ने उन तोल्स्तोय के विचारों की ऐतिहासिक और अवधारणात्मक अन्तर्वस्तु के बीच भेद करना इतना जरूरी समझा, जो "प्रकृतः क्रान्ति से अलग-थलग खड़े थे", अगर लेनिन ने तोल्स्तोय के अन्तर्विरोधों की व्याख्या "एक प्रतिक्रियावादी, चिकनी-छुरड़ी बातें बनाने वाले, जर्मोदार के वैचारिक अंतर्द्वेष के रूप में नहीं, बल्कि हमारी क्रान्ति की खामियों और कमजोरियों के प्रतिबिम्ब के रूप में" करना सही माना, तो हमारे लिए उतने भी कहीं ज्यादा जरूरी था कि हम गांधी जी और उनके अन्तर्विरोधों को समझने का प्रयास करें क्योंकि हमें तो एक ऐसे व्यक्ति से निबटना था जो संपर्क से दूर नहीं था, बल्कि उसमें आकांक्षे का हुआ था? और तोल्स्तोय की ही भाँति गांधी जी के विचार और कार्य के केन्द्र में भी सदा किसान ही प्रतिष्ठित रहा।

इसके अलावा, हमारी क्रान्ति भी तत्त्वतः एक वृषक राष्ट्रीय-जनवादी क्रान्ति थी और वास्तव में आज भी है।

हम एक और मिसाल लें—चीन में जनवाद और नरोद्वाद (सोशलिज्म-वाद) के बीच सम्बंध की मिसाल।

विचारधारा की दृष्टि से डा. सन यान-मेन और गांधी जी के बीच तुलना की कोई गुंजाइश नहीं है। जैसा कि विदिन है, सन यान-मेन का वैचारिक दृष्टिकोण एक जंगल, आधुनिक जनवादी का दृष्टिकोण था।

स्वयं लेनिन ने सन यान-मेन का वर्णन "जंगल और विषयी चीनी जनवाद का यह प्रबुद्ध प्रवृत्त" कह कर किया था (१५ जुलाई १९१२ की नेल्सोना क्वेम्बे में प्रकाशित "चीन में जनवाद और नरोद्वाद" टीपोग्रफ़ सेल में)।

बहरहाल, तब यह है कि सन यान-मेन ने जंगल जनवाद की विचारधारा का अपने 'समाजवादी' स्वप्नों के साथ, इन आशाओं के साथ सम्बन्ध बिना

कि चीन मूलगामी कृषि मुभार के आधार पर विकास के पूंजीवादी पथ से बन सकता है। इसी नरोदवादी इसी सिद्धान्त का उल्लेख देते थे।

डा. सन यान-शेन द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रम पर लेनिन की टिप्पणी अत्यंत महत्वपूर्ण है :

“मनवाद के दृष्टिकोण में यह सिद्धान्त एक निम्न-पूंजीवादी ‘समाज-वादी’ प्रतिक्रियावादी का सिद्धान्त है। कारण यह कि यह विचार सर्वथा प्रतिक्रियावादी है कि चीन में पूंजीवाद को ‘रोका’ जा सकता है और वहां, देश के पिछड़ेपन के कारण, ‘सामाजिक क्रान्ति’ ज्यादा आसान हो जायेगी, आदि।” (वही)।

इसके बाद लेनिन इस बात को व्याख्या करते हैं कि कैसे एशिया की परिस्थितियों में यह अन्तर्विरोध समझा जा सकता है, कैसे ऐसी परिस्थितियों में जंगल जनवाद नरोदवादी विचारों का पोषण करते हुए भी आगे बढ़ सका।

प्रश्न वस्तुतः यह नहीं है कि किसी पिछड़े, पराधीन देश के राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन में उन प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं की आलोचना नहीं की जानी चाहिए या उनका पर्दाफाश नहीं किया जाना चाहिए, जिनके भण्डे के नीचे वह आन्दोलन विकसित हो रहा हो। उनसे पहुंचने वाली हानि का पर्दाफाश करना जरूरी है क्योंकि वे ऐसे आन्दोलनों के पूर्ण क्रान्तिकारी विकास को पंगु बना देती हैं और उसे जोखिम तक में डाल देती हैं।

किन्तु आलोचना को ऐतिहासिक होना चाहिए, अर्थात् ऐसी विचारधाराओं की आलोचना करते समय उनकी प्रेरणा से विकसित होने वाले वास्तविक, साम्राज्यवाद-विरोधी, और प्रायः ही सामन्तवाद-विरोधी, जन-आन्दोलनों पर भी विचार अवश्य करना चाहिए—वह भी उनकी सराहना करते हुए। ऐसी विचारधाराओं की अवधारणात्मक और ऐतिहासिक अन्तर्वस्तु के बीच घालमेल नहीं किया जा सकता, किया भी नहीं जाना चाहिए; उन्हें समतुल्य नहीं माना जा सकता है, माना भी नहीं जाना चाहिए। कारण यह कि ऐसे समीकरण पर आधारित आलोचना अनैतिहासिक और यांत्रिक होती है तथा विचाराधीन जन-आन्दोलन के प्रति संकीर्णतावादी दृष्टिकोण की दिशा में ले जाती है।

: ४ :

यह काफी स्वाभाविक था कि गांधी जी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संबंध भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की भूमिका के मूल्यांकन के साथ, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा देश में स्वयं को और मजदूर-किसान आन्दोलन को, एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में निमित्त करने की

कोशिशों के साथ, तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके नेतृत्व में चलने वाले जन-आन्दोलन के प्रति उसके (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के) दृष्टिकोण के साथ, गुंथे हुए थे। ये सभी प्रश्न एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे और इसी रूप में हमें इनकी विवेचना करनी होगी।

यह समस्या इतिहास के मंच पर उस प्रचंड जन-उभार के समय आपी जिसने १९१८ और १९२२ के बीच संपूर्ण देश को हिला दिया था।

मैं पहले ही यह स्पष्ट कर चुका हूँ कि १९२० में आयोजित कॉंग्रेस में दूसरी कांग्रेस में संबद्ध सवालों पर लेनिन का क्या दृष्टिकोण था।

बीस वर्षों से अधिक समय बाद लिखे गये अपने संस्मरणों में राय ने दूसरी कांग्रेस में लेनिन से हुए अपने मतभेदों का इन शब्दों में वर्णन किया है :

“लेनिन ने यह दलील दी कि साम्राज्यवाद ने औपनिवेशिक देशों की सामंती सामाजिक परिस्थितियों में रोक रखा है, जिससे पूंजीवाद के विकास में बाधा पड़ती है और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की महत्वाकांक्षा विफल होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का वही महत्व था जो पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति का होता है...इसलिए कम्युनिस्टों को चाहिए कि वे राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को एक वस्तुगत तौर पर क्रान्ति-कारी शक्ति मानते हुए, उसके नेतृत्व में चलने वाले औपनिवेशिक मुक्ति आन्दोलन को सहायता करें...”

“गांधी जी की भूमिका मतभेद का नाजुक मुद्दा थी। लेनिन का विद्वान था कि एक जन-आन्दोलन के प्रेरक और नेता होने के नाते वह (गांधी) एक क्रान्तिकारी थे। मैं यह कहता रहा कि वह राजनीतिक दृष्टि से कितने भी क्रान्तिकारी क्यों न प्रतीत हों, पर एक धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी होने के नाते सामाजिक दृष्टि से उनका प्रतिक्रियावादी होना साज्जिमी था।”

राय ने इस प्रश्न पर लेनिन के दृष्टिकोण के एक महत्वपूर्ण पहलू का उल्लेख नहीं किया है और वह यह कि जहाँ लेनिन निश्चय ही यह चाहते थे कि पिछड़े हुए देशों में कम्युनिस्ट लोग पूंजीवादी-जनवादी आन्दोलन का समर्थन करें, वहीं उन्होंने इस बात पर भी कम और नहीं दिया है कि साथ-साथ उन्हें एक स्वतंत्र मजदूर-किसान आन्दोलन तथा एक सचमुच सर्वहारा, कम्युनिस्ट पार्टी का भी निर्माण करना चाहिए।

यही नहीं; लेनिन हालांकि यह निश्चय ही मानते थे कि उत्पीड़ित एशियाई देशों में, जिनमें भारत भी शामिल था, राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद और प्रतिक्रियावाद की शक्तियों के खिलाफ जनता के पक्ष में लड़ा है,

फिर भी इसका कोई मौलिक साध्य नहीं है कि विभिन्न एजियाई देशों के राष्ट्रीय पूंजीपतियों के बीच के परिमाण की दृष्टि से वह कितना अंतर करते थे।

बहरहाल, राय का लेनिन से जिस मुख्य मुद्दे पर मतभेद था, वह कार के उद्धरण में स्पष्ट हो गया है। राय मज़ातमा गांधी की सामाजिक दृष्टि से रूढ़िवादी विचारधारा से अति-ग्रस्त थे जबकि लेनिन, जैसा कि पूर्ववर्ती गंड में स्पष्ट किया गया है, गांधी जी के धैर्यात्मक दृष्टिकोण की अवधारणात्मक अंतर्वस्तु और ऐतिहासिक भूमिका के बीच अव्यय गम्भीर अंतर मानते होंगे।

असहयोग आन्दोलन के वापस ले लिये जाने के बाद १९२२ में लिखी गयी आपटरमैथ ऑफ नॉन-कोऑपरेशन और इंडिया इन ट्रांजिशन नामक अपनी पुस्तकों में राय ने गांधी जी पर और भी कटु प्रहार किये। इंडिया इन ट्रांजिशन में उन्होंने गांधी जी को "प्रतिक्रिया की शक्तियों का उग्रतम और सबसे असाध्य मूल रूप" कहा। (पृष्ठ २०५)।

चौरी-चौरा कांड के बाद गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया था। इससे उनके हजारों सक्रिय अनुयायी और कार्यकर्ता उन पर कुपित थे—और उचित ही कुपित थे। जवाहरलाल और उनके पिता मोतीलाल नेहरू तक ने आन्दोलन की वापसी पर जेल से अपना विरोध व्यक्त किया। और आन्दोलन का स्थगित किया जाना, निस्संदेह, उनकी उन दार्शनिक अवधारणाओं का नतीजा था जिन्होंने जनता को संघर्ष के लिए उभारने में गांधी जी की सहायता तो की, किन्तु जिन्होंने अपने समझौतापरस्त, वर्ग-सहयोगवादी चरित्र के कारण पूंजीपतियों के वर्ग हितों का अतिक्रमण करने से उन्हें रोका भी।

बहरहाल, गलत तो इस तरह के अतिव्याप्त निष्कर्ष निकालना था कि गांधी जी ने साम्राज्यवाद के सामने सर्वथा आत्मसमर्पण कर दिया था, प्रतिक्रान्ति के पक्ष में चले गये थे, आदि। और, राय की रचनाओं का यही मूल स्वर था, जो बाद के इतिहास ने गलत सिद्ध कर दिया।

राय के साथ न्याय करने के लिए इतना तो कहना ही होगा कि उन्होंने इस प्रकार का कोई निष्कर्ष नहीं निकाला कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस स्वतः प्रतिक्रान्तिकारी संगठन था या उसके नेतृत्व में चलने वाला संपूर्ण जन-आन्दोलन प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में निन्दनीय था।

राय ने १९२० में ताशकंद में कुछ भारतीय प्रवासियों के साथ मिल कर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कायम करने की कोशिश की थी और उसके नाम पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एक अपील जारी की थी जो १९२१ में अहमदाबाद में हुए अधिवेशन को सम्बोधित थी। अपील में कहा गया था :

"अगर कांग्रेस उस क्रान्ति का नेतृत्व करना चाहती है जो भारत की जड़ों

को हिता रही है, तो उसे मात्र प्रदर्शनों और जोस-सरोज पर भरोसा करना छोड़ देना चाहिए। उसे ट्रेड यूनियनों की मांगों को अपनी मांगें बनाना चाहिए; उसे किसान सभाओं की मांगों को अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए; वह समय शीघ्र ही आयेगा जब कांग्रेस किसी भी अवरोध के सामने नहीं टूकेगी; और अपने हितों के लिए सबैत रूप से लड़ने वाली संपूर्ण जनता अदम्य शक्ति के साथ उसका समर्थन करेगी।"

सात भर बाद कांग्रेस के गया अधिवेशन के लिए भी इसी प्रकार की एक अपील जारी की गयी थी। उसमें कांग्रेस के लिए एक कार्यक्रम पेश किया गया था, जिसमें निम्नलिखित बातें शामिल थी :

'पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता, सार्वत्रिक मताधिकार, जमींदारी का उन्मूलन, लोकोपयोगी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण, मजदूरों को संगठन का पूर्ण अधिकार, सभी उद्योगों में न्यूनतम वेतन, आठ घंटों का कार्य-दिवस, मुनाफे में हिस्सा, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, राष्ट्रीय स्वतंत्रता की रक्षाएं संपूर्ण जनता को हथियारबंद करना।'

ये दोनों अपीलें न सिर्फ राजनीतिक दृष्टि से बल्कि कांग्रेस और उसके नेतृत्व में चलने वाले जन-आन्दोलन के कार्यनीतिक मजरिये से भी ठीक थीं।

हांगे ने जिस समय १९२१ में गांधी बनाम लेनिन लिखी थी, उस समय उनकी आयु मुश्किल से २२ वर्ष थी। उन दिनों कम्युनिस्ट साहित्य का ब्रिटिश शासकों द्वारा खड़ी की गयी अथेच दीवारों से रिस-रिस कर भारत में आना शुरू ही हुआ था। इसलिए गांधी बनाम लेनिन एक पूर्णतः विकसित मार्क्सवादी की कृति नहीं है।

तथापि उस प्रकाशन का अत्यधिक ऐतिहासिक महत्व है। यह भारतीय नौजवानों की उस पहली पीढ़ी के संघर्ष को परिलक्षित करती है जो गांधी जी की प्रेरणा से जन-आन्दोलन में खिच आये थे। किन्तु गांधी जी के धार्मिक और पुराणपंथी विचारों से, उनकी समझौतापरस्त नीतियों से, इन नौजवानों का मोहभंग होने लगा था और वे एक वस्तुतः वैज्ञानिक आगितकारी दर्शन को दिशा में संघर्ष कर रहे थे।

हांगे कहते हैं कि गांधी जी और लेनिन, दोनों ही, अपने समय के सामाजिक दुर्गुणों को, खास तौर से गरीबों की मुसीबत को, बिनष्ट करना तथा निरंकुशतंत्र को उखाड़ फेंकना चाहते थे। इसके बाद वह लक्षित करते हैं कि गांधी जी और लेनिन ने इतिहास का, आधुनिक औद्योगीकरण के कारणों का, उसके स्वरूप और परिणामों का, तथा उन सामाजिक शक्तियों का जो आधुनिक समाज को पुनर्गठित करने जा रही हैं, जो विश्लेषण किया है, वह किस प्रकार भिन्न है।

और वह यह स्पष्ट करते हैं कि क्यों मजदूर वर्ग और उसके हड़ताल

संपर्कों की भारतीय स्वाधीनता के लिए संपर्क में मुद्राण्ट भूमिका है। उनका कहना यह है कि जिन समय किसानों के कर्जों को कनई अदायगी न करने के लिए कदम बढ़ा देते हैं, उस समय मजदूर वर्ग की हड़ताओं ही सरकार की दमनकारी शक्तियों—सेना और पुलिस—के संघामन को तंग बना सकती हैं और टैगनों की गैर-अदायगी को कामयाब बना सकती हैं।

यह अत्यन्त अयंपूर्ण है कि जिन मजदूर वर्ग की भूमिका पर आते हैं—अभी सामान्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि उस असाहयोग आन्दोलन के व्यावहारिक दायित्वों के दृष्टिकोण में, जो उन दिनों परमोत्कर्ष पर था।

में समझता हूँ कि भारत में जिन प्रथम भारतीय ने जिन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता के वास्तविक संपर्क में मजदूर वर्ग की भूमिका का प्रश्न उठाया और इस दृष्टिकोण से मजदूर वर्ग के संगठन का भी कार्य हाथ में लिया। वह निश्चय ही इस क्षेत्र के आदि अग्रणियों में एक हैं।

व्यापक तौर पर कहा जाय तो गांधी जी और कांग्रेस के प्रति कमिन्टर्न और भारतीय कम्युनिस्टों का यह दृष्टिकोण १९२८ में छठी कांग्रेस तक जारी रहा। किन्तु वह एकरूप नहीं रहा और उस काल में भी विभिन्न स्वर साफ-साफ सुने जा सकते थे।

मिसाल के लिए, स्तालिन ने पूर्व के मेहनतकशों के विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की सभा में दिये गये अपने सुप्रसिद्ध भाषण में (१८ मई १९२५) भारत की परिस्थिति और दायित्वों का चरित्र-निरूपण निम्न प्रकार किया था :

“भारत जैसे देशों में स्थिति कुछ भिन्न है। भारत जैसे उपनिवेशों में अस्तित्व की परिस्थितियों के आधारभूत और नये पहलू मात्र ये नहीं हैं कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग एक क्रान्तिकारी पार्टी और एक समभौता-परस्त पार्टी में विभक्त हो गया है, बल्कि प्राथमिक तौर पर यह है कि इस पूंजीपति वर्ग का समभौतापरस्त तबका पहले ही मुख्य रूप से साम्राज्यवाद के साथ समभौता करने में सफल हो गया है।...पूंजीपति वर्ग का यह हिस्सा, जो सबसे घनाद्वय और प्रभावशाली है, पूरी तरह से क्रान्ति के कट्टर दुश्मनों के खेमे में जा रहा है, यह स्वयं अपने देश में मजदूरों और किसानों के खिलाफ साम्राज्यवाद के साथ एक गुट निर्मित कर रहा है। इस गुट को जब तक ध्वस्त नहीं किया जाता, तब तक क्रान्ति की विजय नहीं हो सकती। किन्तु इस गुट को ध्वस्त करने के लिए समभौता-परस्त राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग पर प्रहार केन्द्रित करना होगा; इसकी गद्दारी का पर्दाफाश करना होगा।...”

स्तालिन ने इस भाषण में पूंजीपति वर्ग के किस तबके को क्रान्तिकारी

माना ? इस विषय पर भी उन्होंने संदेह के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा । उन्होंने "राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के क्रान्तिकारी तबके" के रूप में "निम्न-पूंजीपति वर्ग" का स्पष्ट उल्लेख किया है । इस प्रकार निम्न-पूंजीपति वर्ग के अलावा सभी "पूरी तरह से क्रान्ति के कट्टर दुश्मनों के घेरे में जा रहे हैं ।"

किन्तु रजनी पामदत्त की पुस्तक **मॉडर्न इंडिया (१९२७)** दूसरा ही मूल्यांकन पेश करती है ।

सर्वप्रथम, पामदत्त के अनुसार, बड़े पूंजीपति वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व कांग्रेस के बाहर के उदारपंथी और नरमदली कर रहे थे । उनका यह भी कहना था कि गांधी जी द्वारा कांग्रेस का नेतृत्व बड़े पूंजीपति वर्ग का प्रत्यक्ष नेतृत्व नहीं था और यह कि असहयोग आन्दोलन निम्न-पूंजीवादी बुद्धिजीवी तत्वों का आन्दोलन था ।

पामदत्त ने गांधी जी की भूमिका की भी विशिष्ट तोर पर मीमांसा की थी :

"गांधी जी की उपलब्धि इस बात में निहित थी कि सारे नेताओं के बीच सपनाम अकेले वह ही अवाम को समझ सके और अवाम तक पहुंच सके । यह गांधी जी की पहली महान उपलब्धि थी—एक मौके पर वह अवाम तक अवश्य पहुंच गये थे ।

"गांधी जी की यह सकारात्मक उपलब्धि उन सारी सनकों और कम-जोरियों से उच्चतर है जिन्हें उनके विरोध में पेश किया जा सकता है, और वह भारतीय राष्ट्रवाद को उनका एक सच्चा योगदान है ।" (पृष्ठ ७२-७३) ।

पामदत्त के अनुसार गांधी जी की दूसरी उपलब्धि थी "स्वराज पाने के लिए क्रियाशीलता की, अवाम की क्रियाशीलता की, असहयोग की नीति तथा आन्दोलन के चरम उत्कर्ष पर पहुंचने पर सामूहिक सविनय अवज्ञा की नीति ।" उन्होंने यह भी कहा कि "अहिंसा और आध्यात्मिक अन्तर्वस्तु इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं ।" (पृष्ठ ७२-७३) ।

इसके बाद पामदत्त घोरि-बोरा में पीछे हटने की घंटना की व्याख्या करते हैं ।

"गांधी जी राष्ट्रीय संघर्ष के नेता के रूप में इसलिए असफल हुए कि वह उस उच्च वर्ग के हितों और पूर्वग्रहों से स्वयं को मुक्त नहीं कर सके जिनके बीच उनका सातन-पालन हुआ था ।...गांधी जी की 'आध्यात्मिकता' इस वर्ग हित की एक अभिव्यक्ति मात्र है । सभी परजीवी और

गंधारिणांभी यमों को अपने इडे-विडे अस्वास्वय भाषण, अंगविज्याम परंपरा, धर्म, पुनरुत्थानवाद आदि का ज्ञान-ज्ञाना सुनना पड़ना है ताकि वे अपने जीवन के मध्य को अज्ञान की निगाहों में लिया सकें।" (पृ. ८०)

गांधी जी के विचारों और व्यावहारिक मंत्रणा की संपूर्ण प्रक्रिया का जो विस्लेषण पामरदा में किया है, यह निम्नलिखित अर्थशास्त्र अधिक महत्वा है और उनकी दुहरी भूमिका को अर्थशास्त्र अधिक मयूह और जीवन शैली में प्रस्तुत करता है।

१९२७ में सापुरजी सकलातवाला की—मुद्रसिद्ध कामरेड 'सक' की— भारत यात्रा उस काल के गांधी जी और कम्युनिस्टों के संबंधों के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना थी, हालांकि सकलातवाला के दंगलेड वापस जाने के बाद उनके परिणामस्वरूप और कोई घटना नहीं घटी। दोनों के बीच में हुआ पत्राचार मजदूर संगठन से संबंधित है, पर वह राजनीतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

सकलातवाला ने गांधी जी को अपनी ही विनिष्ट शैली में पत्र लिखा था। अपने सबसे विस्तृत पत्र में वह कहते हैं :

" मैं अपने आम मुहफ्ट तरीके से कहना चाहूंगा कि मैं फिर आप पर 'हमला' करने जा रहा हूँ। बेशक आप अपने ऊपर मेरे 'हमलों' का बर्ष और स्वरूप समझते हैं, अर्थात् आपको सच्चे प्रचारक के हृदय और गुणों से संपन्न अजेय मनोबल वाला मान कर मैं यह चाहता हूँ कि आप विविध भारतीय आन्दोलनों को उस तरह वरतें जिस तरह विश्व के अन्य भागों में इन आन्दोलनों को सफल बनाया गया है।"

इसके बाद पत्र में इस बात की व्याख्या की गयी है कि क्यों भारत में आधुनिक उद्योग का बढ़ना अनिवार्य है; कैसे वह मजदूरों के संयुक्त होने तथा जाति और धर्म पर आधारित उनके विभाजन को निरस्त करने वाला सबसे शक्तिशाली हेतु साबित हुआ, कैसे भारतीय मजदूर वर्ग को अपनी अल्प संख्या के बावजूद स्वातंत्र्य आन्दोलन में बहुत बड़ी भूमिका अदा करनी थी; कैसे गांधी जी की अहमदावाद मजूर-महाजन सच्चे ट्रेड यूनियन सिद्धांतों पर नहीं टिकी थी; कैसे गांधी जी के "श्रमिक के हिस्से" संबंधी सिद्धान्त प्रतिक्रियावादी थे, आदि, तथा गांधी जी से इस बात के लिए जोरदार अपील की गयी है कि वह मजूर-महाजन को अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से संबद्ध करें

* देखिए : सापुरजी सकलातवाला, पी. पी. एच. प्रकाशन, पृ. ११०.

और अपनी ताकत को भारतीय ट्रेड यूनियन आन्दोलन की व्यापक धारा में प्रवाहित करें।

इसके बाद पुनः सत्मानवाला गांधी जी की अभियान और संगठन की सफलताओं की ओर अपनी दृष्टियों में मरवाहना करते हैं :

"मानने सराब रवान्ध के बावजूद आप एक सक्रिय और सधमुप अस्तित्व भारतीय प्रचारक है और छोड़े समय में विद्याल क्षेत्रों को समेट लेने में सक्षम है। आप अपनी लोकप्रियता और आकर्षण के कारण जन मानस को अभिभूत कर सकते हैं जिससे करोड़ों निरक्षर, अतिनरत, अघभूती आवादी को संगठित करने का अन्वेषा गुरातर कार्य अपेक्षाकृत आसान हो जायेगा। आपके रूढ़िप्रद सहयोग से अन्य स्वयंसेवी कार्य-कर्ताओं में मजदूरों के लिए काम करने का उत्साह पैदा होगा, और मैं आसने साफ-साफ कह सकता हूँ कि आपकी इस नयी सक्रियता से हमारे उन हजारों नवयुवकों के मामले व्यावहारिक कार्य का उपयुक्त रास्ता पुन जायेगा जो कभी आपके आन्दोलन में शामिल हुए थे, पर बाद में व्यावहारिक और विद्यासोत्साहक कार्यक्रम के न होने से ठंड़े पड़ गये।"

गांधी जी के उत्तर अपेक्षाकृत काफी सक्षम हैं किन्तु साथ ही वे अत्यन्त साध-मिक और रोचक हैं। एक पत्र में उन्होंने लिखा है :

"जहाँ तक हमारे आदर्शों का सवाल है, हम अलग-अलग बिंदुओं पर खड़े हैं।...

"एक स्पष्ट नीति के बारे में। यह (मेरी नीति) पूंजीवाद-विरोधी नहीं है। विचार सहक इतना है कि पूंजी से थम का हिस्सा से लिया जाये, उससे अधिक कुछ नहीं, और वह भी पूंजी को पंगु बना कर नहीं, बल्कि मजदूरों को अन्त्यतर से मुबार कर और स्वयं उनकी आत्म-चेतना के जरिये; तथा गैर-मजदूर नेताओं की धालाकी और धालों के जरिये नहीं, बल्कि मजदूरों को स्वयं अपना नेतृत्व विकसित करने की शिक्षा देकर तथा उनके अपने आत्मनिर्भर स्वअस्तित्वमय संगठन के जरिये। इसका सीधा सध्य लेन मात्र राजनीतिक नहीं, बल्कि अन्त्यतर मुबार और आंतरिक शक्ति का विकास है। जब कभी यह विकास पूर्ण हो जाता है तो इसका परोक्ष परिणाम स्वभावतः अत्यधिक राजनीतिक होता है।"

"...मेरे विचार से मजदूरों को राजनीतिक घातरंज में राजनीतियों के हाथ के मुहुरे नहीं बन जाना चाहिए। उन्हें अपनी व्यावहारिकता से घातरंज की विद्याल पर हावी हो जाना चाहिए।"

जहाँ से व्यावहारिकता से
...यही मेरा स्वप्न है।
क्रमांक-6767
विभाग-जारी
(अपकालक) की कार्य

"...में आपको मरण का एक महत्त्वपूर्ण मानना है...। हम सभी के लिए यह जरूरी नहीं है कि हम अपनी तरफ से एक-दूसरे में सहमत हो हों; पर हममें से हरेक के लिए यह जरूरी है कि हम अपने विचारों और कार्यों के लिए दूसरों में अपने सम्मान की आशा करते हैं उतना ही दूसरों को दें।"

सफलतायाना को विरोध में अपने अंतिम पत्र में गांधी जी पूरी दुनिया के हैं कि उन्हें यह विश्वास नहीं हो सका है कि महान-महाजन का अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में संबद्ध होना उपयोगी होगा, किन्तु "में आपको अपनी ओर से आश्वासन देता हूँ कि जिस क्षण मुझे यह महसूस होगा कि मेरा प्रवेश उपयोगी हो सकता है, उसी क्षण मैं बिना हिचक इस अखिल भारतीय संगठन को अपनी सेवाएं अर्पित कर दूंगा।"

वेदाक, भारत में नवजात कम्युनिस्ट आन्दोलन गांधी जी के साथ केवल मौखिक और वैचारिक बहस-मुवाहसा ही नहीं चला रहा था। वह उस व्यक्ति और उसकी नीतियों के विश्लेषण और मूल्यांकन का ही प्रयास नहीं कर रहा था।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना १९२५ में हुई थी। उसके बहुत पहले ही, १९२०, १९२१ और १९२४ में, भारत की ब्रिटिश सरकार युवा कम्युनिस्टों पर कई मुकदमे चला चुकी थी जो उन दिनों बोल्शेविक पठन मुकदमों के नाम से प्रसिद्ध थे। कारण यह कि गांधी जी के दर्शन और समझौतापरस्त राजनीतिक नीतियों से मोह-भंग हो जाने के कारण उन लोगों ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद का प्रचार करना, मजदूरों और किसानों में आन्दोलनात्मक कम्युनिस्ट साहित्य का वितरण करना तथा जुभाह, वर्ग ट्रेड यूनियनों, किसान सभाओं, तरुण लीगों आदि का संगठन करना भी शुरू कर दिया था। पंजाब, बंगाल और बम्बई देश में इस प्रकार की गतिविधियों के सर्वप्रथम केन्द्र थे। साथ ही, गांधी जी की नीतियों से घोर मतभेद के वावजूद कम्युनिस्टों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में काम करना भी जारी रखा था।

१९२८ में मुख्यतः बम्बई और बंगाल में मजदूर वर्ग के संघर्षों का प्रचंड ज्वार आया था। इन संघर्षों के नेतृत्व में कम्युनिस्टों का प्रभुत्व था। शक्तिशाली गिरणी कामगार यूनियन, जो उन दिनों एशिया की सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन मानी जाती थी, बंबई के कपड़ा मिल मजदूरों की छह महीने की आम हड़ताल से उत्पन्न हुई थी। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में हमें शक्तिशाली स्थान प्राप्त हो गया।

इन्हीं तेजी से बढ़ती हुई कम्युनिस्ट गतिविधियों के कारण ब्रिटिश सरकार : १९२६ के आरंभ में उन दिनों का विख्यात मेरठ कम्युनिस्ट पड्यंत्र केस लाया था ।

: सभी तक हमने गांधी जी के कम्युनिस्ट मूल्यांकन और उनके प्रति कम्यु-
रस्ट दृष्टिकोण की ही खर्चा की है । जाहिर है, कम्युनिज्म, बोल्शेविज्म आदि
: प्रति गांधी जी के रक्त का उल्लेख भी जरूरी है ।

: स्वभावतः गांधी जी को पहले की अपेक्षा १९२६-२७ के बाद कम्युनिज्म
: और कम्युनिस्टों का कहीं अधिक उल्लेख करना पड़ा, क्योंकि उस समय तक
: म लोग भारतीय राजनीति के रंगमंच पर एक संगठित और प्रभावशाली
: शक्ति के रूप में मुद्रिकल से ही आ पाये थे ।

: गांधी जी द्वारा १९१६ में ही दिया गया एक वक्तव्य अत्यंत अर्थगमित
: । भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्तों के उस पार ब्रिटेन ने जो आक्रामक
: नीतियां अपनायी थीं, उनके फलस्वरूप अप्रैल और अगस्त १९१६ के बीच
: गीसरा अफगान युद्ध हुआ था ।

: तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड ने युद्ध का दोष भारत के खिलाफ
: बोल्शेविक कुचक्रों के भाये मढ़ दिया और गांधी जी से बोल्शेविक खतरे के
: नाम पर असहयोग आन्दोलन स्थगित कर देने की अपील की ।

: गांधी जी ने उस अपील पर फौरन उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त की । उन्होंने
: यह कहते हुए अपील को ठुकरा दिया कि "मैंने कभी बोल्शेविक खतरे में
: विश्वास नहीं किया है और आखिर किसी भी भारतीय सरकार को रुसी
: बोल्शेविक या किसी भी खतरे से क्यों डरना चाहिए ?" और उन्होंने इस हीबे
: के नाम पर जन-आन्दोलन को स्थगित करने से इनकार कर दिया ।

: गांधी जी ने, बिरले ही सही, बोल्शेविज्म के बारे में भी लिखा । ११ दिस-
: म्बर १९२४ को यंग इंडिया (उनके प्रतिष्ठित साप्ताहिक मुखपत्र) में प्रकाशित
: एक लेख में उन्होंने टिप्पणी की : "मुझे अभी तक यह नहीं भाचूम कि बोल्शे-
: विज्म ठीक-ठीक क्या है । मैं इसका अध्ययन नहीं कर सका हूं । मैं नहीं जानता
: कि कालान्तर में यह रूस के भले के लिए होगा । पर मैं इतना जानता हूं कि
: जहां तक यह हिंसा और ईश्वर के नियम पर आधारित है, मुझे इसके प्रति
: विवृण्णा होती है ।"

: यंग इंडिया का एक और प्रसंग (१५ नवम्बर १९२८) और भी अर्थपूर्ण है
: तथा गांधी जी के विचारों के अन्तर्विरोधी स्वरूप का सामाजिक उदाहरण है :

"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हिंसा के आधार पर कोई भी स्थायी
: चीज नहीं सड़ी की जा सकती । बिन्दु जो भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं

कि बोल्शेविक आदर्श के पीछे उन असंगत नर-नारियों का पवित्रतम बलिदान दिया है जिन्होंने इसके लिए अपना सब कुछ अर्पित कर दिया है। लेनिन जैसी महान आत्माओं के बलिदानों द्वारा ऐसा पवित्र आदर्श निष्फल नहीं जा सकता; उनके त्याग का उदात्त उदाहरण सदा सुसोभित रहेगा तथा समय गुजरने के साथ उन आदर्शों को अधिक त्वरित तथा परिशुद्ध करता जायेगा।”

इस प्रकार १९२८ में कॉमिन्टर्न की छठी कांग्रेस के समय तक गांधी जी और गांधीवाद की आम भूमिका और अर्थवत्ता गायी साफ हो चुकी थी।

एक ओर गांधी जी की ईश्वरवादी विचारधारा और सिद्धान्त—सत्य, अहिंसा, प्रेम, त्याग, आत्मशुद्धि, अन्तर की आवाज, हृदय-परिवर्तन, अमानत के सिद्धान्त, आदि, सम्बंधी उनके मतवाद—भारत के सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन को, खास तौर पर भारतीय किसान अवाम के पिछड़ेपन और अंधविश्वास को, अभिव्यक्त करते थे। इसी कारण वे पुराणपंथी और अवैज्ञानिक थे। भारत के क्रान्तिकारी साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के पूरे विकास के जो वैचारिक तकाजे हैं, उनकी दृष्टि से वे अनिवार्यतः अनुपयुक्त थे। जैसे हर अंधविश्वास तथा ईश्वरीय निर्देश में विश्वास अविचल क्रान्तिकारी संघर्ष के हक में हानिकर होता है, वैसे ही अंतिम विश्लेषण में वे भी हानिकर थे।

दूसरी ओर, उन विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में इन्हीं सामाजिक, आचारगत और दार्शनिक विचारों ने उन करोड़ों भारतवासियों की आशाओं और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त किया जिनमें नये जीवन तथा विदेशी शासन के प्रभुत्व और मुसीबतों के खिलाफ संघर्ष की नयी जागृति फैल गयी थी (उदाहरणार्थ, गांधी जी की इस प्रकार की घोषणाएं और रचनाएं हैं, जैसे, “इस पैशाचिक सरकार को सुधारा नहीं जा सकता, इसका खात्मा ही किया जाना चाहिए”); “ईश्वर गरीबों के सामने सिवा रोटी के और किसी रूप में अवतरित होने की हिम्मत नहीं कर सकता”, आदि)।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यवहार में इन विचारों ने हड़तालों, सामूहिक असहयोग, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आदि का, अर्थात् साम्राज्यवाद के खिलाफ सामूहिक विरोध प्रदर्शन की कारवाइयों का, रूप धारण कर लिया। निश्चय ही ये संघर्ष के क्रान्तिकारी रूप नहीं थे, किन्तु इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि इसके बावजूद वे हमारे स्वातंत्र्य आन्दोलन में संघर्ष के शक्तिशाली और कारगर रूप थे।

और इसी कारण भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन में गांधी जी के पुराणपंथी वैचारिक सिद्धान्तों को भी एक साम्राज्यवाद-विरोधी, प्रगतिशील भूमिका

प्राप्त हो गयी। उनसे निश्चय ही राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन की शक्तियों को मुक्त करने में मदद मिली।

यह कहना सचमुच गांधी जी और गांधीवाद का उपहास, मिथ्या निन्दा, होगा कि उन्होंने कभी 'बुराई का विरोध न करने' के ईसाई सदाचार का उपदेश दिया। पिछली सदी के दसवें दशक में दक्षिण अफ्रीका में अपने सार्वजनिक जीवन के आरंभ से लेकर मृत्यु पर्यन्त उन्होंने 'बुराई का अहिंसात्मक प्रतिरोध' करने की और न कि 'बुराई का प्रतिरोध न करने की,' शिक्षा दी और उसी को अमल में उतारा। सच तो यह है कि उन्होंने बार-बार यह कहा है कि हिंसा के प्रति अपनी समस्त धृष्टता के बावजूद मैं कभी भी बुराई के सामने कायरतापूर्ण आत्म-समर्पण की अपेक्षा हिंसात्मक प्रतिरोध की तरफ ही दूंगा। गांधी जी का कटु से अट्ट आलोचक भी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि वह अपने सारे सम्भोगों और अपने सारे आध्यात्मिक प्रयत्नों व तंतु जालों के बावजूद आजीवन एक पानीदार योद्धा, लोभ, उत्पीड़न और अन्याय के खिलाफ लड़ने वाले योद्धा, रहे।

किंतु बेशक गांधी जी के सारे विचार सर्वथा भारतीय किसान के तथा स्वातंत्र्य आंदोलन में पहली बार खिंच कर आयी हमारी जनता की राजनीतिक चेतना के पिछड़ेपन के परिणाम नहीं थे।

उनके दृष्टिकोण में निश्चय ही उनके उच्च-वर्गीय पूर्वग्रहों का भी तत्व था। भारतीय जनता के आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों की ठोस समस्याओं में वह अहिंसा, अमानत और हृदय-परिवर्तन के अपने 'सिद्धांतों' का जिस तरह प्रयोग करते थे, निहित स्वार्थों के प्रति जो बर्ग सहयोग की नीतियां अपनाते थे, उनमें यह बात सबसे ज्यादा देखने में आती थी।

उनकी वैचारिक संरचना के इन दोनों मूलों, इन दोनों तत्वों, तथा आन्दोलन संगठन और समझौता वार्ता की उनकी बेबोड़ क्षमताओं, दोनों ने, उन्हें भारत के पूंजीवादी-जनवादी स्वातंत्र्य आन्दोलन का श्रेष्ठतम सिद्धान्तकार और नेता बना दिया।

कारण यह कि उनके इन गुणों से भारत के उदीयमान राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को ऐसी स्वाधीनता के लिए एक राष्ट्रीय जन-आन्दोलन संगठित करने में सहायता मिली जो शक्ति का मूल तत्व तो उन्हें मुल्तम करा दे, किंतु आन्दोलन को काबू से बाहर न जाने दे; इनसे उसे साम्राज्यवादी और सामंती हितों के साथ ऐसे समझौते करते हुए, जिन्हें वह अपने बर्ग हित के लिए जरूरी समझता था, राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने में सहायता मिली।

इस अंतिम अर्थ में इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि गांधी जी एक पूंजीवादी राष्ट्रीय नेता थे। किंतु इससे इस तथ्य में देय मात्र अंतर नहीं पड़ता, या पड़ सकता, कि ऐसी परिस्थिति में जब कि भारत के सामने

मूल, ऐतिहासिक दायित्व ब्रिटिश शासन में स्वतंत्रता प्राप्त करने का था, गांधी जी ने, अपनी सारी वैचारिक और राजनीतिक सीमाओं के बावजूद, राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरणा और नेतृत्व देकर स्वाधीनता की मंजिल तक पहुंचाया।

इसी तथ्य के कारण उन्हें राष्ट्रपिता कहलाने का सम्मान प्राप्त हुआ।

: ५ :

१९२८ में हुई कॉमिन्टर्न की छठी कांग्रेस गांधी जी और कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नजरिये और नीतियों के क्षेत्र में एक स्पष्ट मार्ग-चिह्न थी।

कांग्रेस ने गुलाम और पराधीन देशों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन संबंधी प्रस्थापनाएं स्वीकृत कीं, जिनका शीपंक था उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन।

ये प्रस्थापनाएं आज भी साम्राज्यवादी प्रभुत्व के अधीन देशों के अर्थात् के स्वरूप और विश्लेषण पर एक क्लासिकी दस्तावेज हैं। इस संदर्भ में उससे बेहतर विषय-निरूपण कर सकना मुश्किल है।

इसके अलावा, छठी कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का कार्यक्रम और औपनिवेशिक प्रस्थापनाओं को ही इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने स्वातंत्र्य आन्दोलन में बुनियादी वर्ग-तत्वों और मजदूर वर्ग की भूमिका की प्रखर समझदारी से समृद्ध भारतीय कम्युनिस्टों की एक पीढ़ी को दीक्षित करने में महान योगदान किया।

किंतु पराधीन देशों के राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के संबंध में औपनिवेशिक प्रस्थापनाओं की राजनीतिक लाइन स्पष्टतः संकीर्णतावादी थी।

छठी कांग्रेस ने इस प्रश्न पर कॉमिन्टर्न की पूर्ववर्ती नीतियों से ऐसा गहरा, संकीर्णतावादी मोड़ क्यों ले लिया, यह ऐसा विषय है जिस पर अभी तक पूरी रोशनी नहीं पड़ी है।

एक खास कारण से आश्चर्य और भी बढ़ जाता है। छठी कांग्रेस के पहले राय ने अपने इस आकलन को सैद्धान्तिक जामा पहना दिया था कि भारतीय राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग सर्वथा प्रतिक्रान्तिकारी हो गया है। उनके कथनानुसार भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन से चौकन्ने होकर साम्राज्यवाद ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को महत्वपूर्ण आर्थिक रियायतें दे दीं ताकि उसे अजाम के खिलाफ प्रतिक्रान्तिकारी संघर्ष में अपने सहयोगियों, मित्रों, छुटभैयों आदि के रूप में अपने पक्ष में किया जा सके। इसे उस समय निरूपनिवेशन का सिद्धान्त कहा जाता था। छठी कांग्रेस ने राय के निरूपनिवेशन के सिद्धान्त को अस्वीकृत कर

दिया और यह प्रतिपादित किया कि साम्राज्यवाद ने अभी भी भारतीय आर्थिक विकास को जकड़ रखा है, तथापि व्यवहार में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का वही राजनीतिक आकलन पेश किया—कि साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की शक्ति के रूप में उसकी भूमिका खत्म हो चुकी है। इन दोनों स्थितियों में स्पष्ट अंतर्विरोध था।

सबसे युक्तिसंगत स्पष्टीकरण १९२६ में कुओमिन्तांग और च्यांग काई-शेक द्वारा चीनी क्रान्ति के साथ विश्वासघात हो सकता है जिसमें च्यांग काई-शेक के नेतृत्व में प्रतिक्रान्ति द्वारा बोले गये भयानक हमले में दसियों हजार कम्युनिस्ट और अन्य जनतंत्र-प्रेमी सीधे काट डाले गये। ऐसा हो सकता है कि उस कटु अनुभव के सन्दर्भ में छठी कांग्रेस इस निष्कर्ष पर पहुंची कि औपनिवेशिक पराधीन देशों में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग महज एक धोखेबाज और गद्दार शक्ति है। संभवतः यह दूध से जले का मट्टा फूक-फूक पीने का उदाहरण था।

प्रस्थापनाओं का आरंभ इस वक्तव्य के साथ होता है कि दूसरी कांग्रेस में स्वीकृत राष्ट्रीय औपनिवेशिक प्रश्नों पर लेनिन की प्रस्थापनाएं आज भी मान्य हैं। किंतु प्रस्थापनाओं की अंतर्वस्तु से इस कथन की पुष्टि नहीं होती।

इन प्रस्थापनाओं के निरूपण के विस्तार में जाने की जरूरत नहीं। उनमें अनेक इस प्रकार के सूत्र शामिल हैं: "राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में एक शक्ति के रूप में महत्व नहीं है"; "इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यह क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास में अवरोध पैदा करने वाला, पीछे घसीटने वाला (जोर मूल में) प्रभाव डालता है"; "भारत और मिस्र में हम अभी भी फिलहाल लाभार्थक पूंजीवादी-राष्ट्रवादी आन्दोलन देखते हैं—एक ऐसा अवसरवादी आन्दोलन जो साम्राज्यवाद और क्रान्ति के बीच संतुलन स्थापित करते हुए (जोर मूल में) अत्यधिक बुलमुलाहट दिखाता है"; "कम्युनिस्ट पार्टी और राष्ट्रवादी सुधारवादी विरोध पक्ष के बीच किसी प्रकार के गुट-निर्माण को अस्वीकार कर देना जरूरी है"; "स्वराजवादी, वफतवादी और अन्य राष्ट्रवादी पार्टियों के तथा शासतौर पर उनके नेताओं के (जोर लेसक ट्राए) राष्ट्रीय सुधारवादी (जोर मूल में) चरित्र का मेहनतकश अबाम के सामने निर्ममता से पर्दाफाश करना कम महत्व नहीं रखता"; "राष्ट्रीय संघर्ष में उनके अनमन्यपन और दुलमुलपन का (जोर मूल में), ...उनके पहले के आत्मसमर्पणों और प्रतिक्रान्तिकारी कदमों का, ...उनकी खोखली राष्ट्रवादी सपनाजी का...पर्दाफाश करना जरूरी है।..."

विरोध रूप से भारत के बारे में कहा गया है: "कम्युनिस्टों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राष्ट्रीय सुधारवाद को बेनकाब करना चाहिए तथा सविनय अवज्ञा के बारे में स्वराजवादियों, गांधीवादियों आदि की सारी सपनाजी

के विरोध में देश की मुक्ति और साम्राज्यवादियों के निष्कासन के लिए संघर्ष का अकाट्य नारा देना चाहिए।" (जोर नेगक द्वारा)।

ऐसा नहीं है कि छठी कांग्रेस की प्रस्थापनाओं ने संकीर्णतावादी और दुरस्ताहसवादी कार्यनीति के गिनाफ चेतानवी नहीं दी। कांग्रेस ने औपनिवेशिक देशों के कम्युनिस्टों को चेतानवी दी कि "गलाकाड़ लफ्फाजी, चाहे वह कितनी भी प्रान्तिकारी नयों न लगे" राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को धेनकाव नहीं कर सकती, तथा यह कि पूंजीवादी नेतृत्व द्वारा धार-धार किये गये विद्रवासावाओं का अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं कि वह स्याधी रूप में साम्राज्यवाद के पक्ष में चला गया है। प्रस्थापनाओं का मतविद्या तैयार करने वाले मुख्य व्यक्ति कुसिनेन ने छठी कांग्रेस में दम बात पर जोर दिया कि चीन के कुओमिन्तांग से विपरीत भारतीय राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवादी जिविर में प्रवेश नहीं किया है और वे पूंजीवादी प्रतिक्रान्तिकारी पार्टी नहीं हैं।

किन्तु इन चेतानवियों और एहतिघातों में प्रस्थापनाओं की मुख्य दिशा नहीं बदली जा सकी। एक बार जब आप यह कह देते हैं कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद और क्रान्ति के बीच संतुलन स्थापित कर रहा है, कि वह साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में कोई शक्ति नहीं है, कि अब अपना कर्तव्य यह है कि उसके नेताओं का वेरहमी से पर्दाफाश किया जाये, कि कम्युनिस्टों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके अहिंसात्मक जन-आन्दोलन का विरोध करना चाहिए—जब ये सारी स्थितियां अपना ली जाती हैं, तब स्वभावतः कम्युनिस्टों और कांग्रेस के नेतृत्व वाले जन-आन्दोलन के बीच टक्कर के सिवा और कोई संबंध रह ही नहीं जाता।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि छठी कांग्रेस की प्रस्थापनाओं ने भारतीय कम्युनिस्टों के लिए भारत में कांग्रेस के भीतर से राष्ट्रीय आन्दोलन विकसित करने के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी थी, और यही असली मुद्दा था। इस बात में कभी संदेह नहीं रहा कि आन्दोलन को बाहर से भी विकसित किया जाना था।

यह बात महत्वपूर्ण है कि छठी कांग्रेस की प्रस्थापनाओं में कहीं भी भारतीय कम्युनिस्टों से कांग्रेस और उसके आन्दोलन के भीतर रह कर काम करने को नहीं कहा गया। और यह चूँकि संयोग की बात नहीं थी, इस तरह का सुझाव प्रस्थापनाओं के आम स्वर और लाइन के साथ-साथ नहीं चल सकता था।

यही वह नाजुक मुद्दा था जिस पर भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन के संबंध में लेनिन की समझदारी और निर्देश के आधार पर दूसरी कांग्रेस के समय से चलायी जा रही पूर्ववर्ती अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट लाइन से छठी कांग्रेस आमूल अलग हट गयी थी।

यह अत्यंत महत्वपूर्ण बात है कि हालांकि छठी कांग्रेस की साइन १९२९ के प्रीम से रिस-रिस कर भारत पहुंचने लगी थी, फिर भी गांधी जी मेरठ पड़यंत्र केस के कम्युनिस्ट अभियुक्तों से मिलने १९२९ के उत्तरार्ध में मेरठ जेल गये थे ।

उन्होंने मेरठ पड़यंत्र केस में पासे गये हमारे साधियों से कहा कि महीने-दो-महीने बाद होने वाला भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन पूर्ण स्वाधीनता को कांग्रेस का ध्येय घोषित करते हुए प्रस्ताव स्वीकृत करेगा । उन्होंने उन लोगों से यह भी पूछा कि अब इस प्रस्ताव की रोशनी में कम्युनिस्ट लोग लाहौर कांग्रेस के बाद छोड़े जाने वाले संघर्ष में उनका साथ देंगे या नहीं ।

मेरठ के साधियों ने जवाब में महात्मा गांधी से एक बहुत ही प्रासंगिक प्रश्न पूछा । वे यह जानना चाहते थे कि अगर पुलिस की हिंसा से जनता उत्तेजित हो गयी तो यह चोरी-चोरा कांड के समय को तरह क्या फिर से आन्दोलन को स्थगित कर देंगे ।

गांधी जी ने थोड़ी देर कुछ सोचा और जवाब दिया : "नहीं ।"

ये ऐसे तथ्य हैं जिनकी जांच-परख के बाद पुष्टि हो चुकी है ।

यह बात भी महत्वपूर्ण है कि कम्युनिस्टों और कांग्रेस के बीच सारे मतभेदों के बावजूद मोतीलाल और जवाहरलाल नेहरू जैसे कांग्रेस के विभूत नेताओं ने मेरठ के अभियुक्तों का साथ दिया और उनके कानूनी बचाव में सहायता की । मोतीलाल, जो उस समय के सर्वोच्च भारतीय वकीलों में से थे, कम्युनिस्टों के बचाव के लिए मेरठ की अदालत में व्यक्तित्व रूप से स्वयं उपस्थित हुए ।

मोतीलाल ने भारतीय विधान सभा में भी, जिसके वह सदस्य थे, मेरठ की विपक्षारथियों की भरसना की । उन्होंने घोषणा की कि वे दिन लद गये जब कंटीले तारों की बाड़ खड़ी करके ब्रिटिश शासक नये विचारों को भारत से बाहर रोक रख सकते थे ।

इन सारे तथ्यों की रोशनी में यह दुखद बात थी कि १९३० में—बेशक भारतीय अबाम को मुधारवादी, समझौतापरस्त, गांधीवादी प्रभाव में मुक्त करने तथा मजदूर वर्ग के नेतृत्व में सच्चा क्रान्तिकारी राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन शुरू करने के ईमानदारी भरे उद्देश्य से—हमने स्वयं को गांधी जी के विरोध में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विरोध में, तथा व्यावहारिकतः कांग्रेस द्वारा चलाये गये सामूहिक अवज्ञा आन्दोलन के विरोध में, खड़ा कर दिया ।

यह कह देना जरूरी है कि उस समय की ओर बढ़ते हुए हम लोगों ने ठोस साम्राज्यवाद-विरोधी नारों के साथ अपने नेतृत्व में मजदूर वर्ग के कई जंगल

संघर्ष संगठित किये। किन्तु वे हमारे तथा मजिदम अथवा आन्दोलन में भाग लेने वाली जनता के बीच संगु का काम नहीं कर सके।

अगर १९२६ में मेरठ पदचर्य के सम्बंधी गिरफ्तारियां नहीं हुई होतीं तो यह सम्भव है कि हम लोगों ने कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन के प्रति अपेक्षाकृत कम संकीर्णतावादी कार्यनीति अपनायी होती और तब तबसी जरा दूसरी होती।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संघर्ष कार्यक्रम का मसविदा पहले-पहल नवम्बर-दिसम्बर १९३० में इंटरनेशनल प्रेस कॉन्फ्रेंस (इंफ्रेंस) में प्रकाशित हुआ था। जाहिर है, यह १९३० के मनचोर मजिदम अथवा आन्दोलन के बीच तैयार किया गया था जिसके दौरान दसियों हजार लोग जेल गये थे, हजारों लोगों पर पुलिस की मार पड़ी थी और सैकड़ों लोग पुलिस की गोतियों से शहीद हुए थे।

वदकिस्मती से कार्यक्रम का यह मसविदा छठी कांग्रेस की लाइन को "कहीं और आगे" तक पींच ले गया था। उसमें कहा गया था कि भारतीय

"पूँजीपति वर्ग बहुत पहले ही देश की स्वाधीनता के संघर्ष से गहरी कर चुका है, ... इसका मौजूदा 'विरोध' (उद्धरण-चिन्ह मूल में) ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ दांव-पेंचों का ही प्रतीक है जिनका प्रयोजन मेहनतकश समुदाय को दगा देना है; ... पूँजीपति वर्ग और उसके राजनीतिक संगठन, राष्ट्रीय कांग्रेस, द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद को दी गयी सहायता आजकल ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ समझौते की सुसंगत नीति के रूप में सामने आ रही है; वह अवाम के क्रान्तिकारी संघर्ष के विघटन और साम्राज्यवाद की व्यवस्था को सुरक्षित रखने के रूप में सामने आ रही है। ... गांधीवाद की नीति, जिस पर कांग्रेस का कार्यक्रम आधारित है, गोलमोल वाक्जाल के पर्दे का इस्तेमाल करती है। ... भारतीय क्रान्ति की विजय में सबसे हानिकर और खतरनाक विघ्न है जवाहरलाल नेहरू, बोस आदि के नेतृत्व में राष्ट्रीय कांग्रेस के 'वामपंथी' (उद्धरण चिह्न मूल में) तत्वों द्वारा चलाया जाने वाला आन्दोलन; ... 'वामपंथी' (उद्धरण चिह्न मूल में) कांग्रेस नेताओं का पर्दाफाश करना हमारी पार्टी का पहला कर्तव्य है; ... राष्ट्रीय सुधारवादियों द्वारा स्थापित समझौते के पूँजीवादी मोर्चे के विरुद्ध कम्युनिस्टों को नीचे से मेहनतकशों का संयुक्त मोर्चा निर्मित करना चाहिए; ...।"

टिप्पणी की कोई जरूरत नहीं।

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी के प्यारहवें पूर्णाधिकेशन (मार्च-अप्रैल १९३१) ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें इस प्रकार की बातें सम्मिलित हैं जैसे : "अवाम का साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष प्रतिशान्तिकारी गांधीवाद की अधिकाधिक भंजित कर भागे बढ़ रहा है;" "भारत में मजदूर और किसान आन्दोलनों की वृद्धि के फलस्वरूप, साथ ही राष्ट्रीय सुधारवादी पूंजीपति वर्ग और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बीच विस्वासघातपूर्ण अभिसंधियों और प्रतिशान्तिकारी मैत्री के फलस्वरूप, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन ध्यापनर और गहनतर होता जा रहा है। मजदूर वर्ग के सामने इस समय जो वर्तव्य है, वह है—ब्रिटिश साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय कांग्रेस के खिलाफ उत्पीड़ित वर्गों का क्रान्तिकारी संघर्ष संगठित करना।"

— यह सब बताने समय, और साथ तौर पर इसलिए कि मैंने अपनी नीतियों का बेमुरीबती से आकलन किया है, यह कह देना जरूरी है कि यह घिसा-पिटा पूंजीवादी सांघन सर्वथा निराधार है कि उन दिनों, कम्युनिस्टों में देशभक्ति नहीं थी। इन आरोपों की निस्तारता दृष्टी बात से सिद्ध हो जाती है कि ब्रिटिश शासकों ने कम्युनिस्टों का लगातार दमन जारी रखा और यह कि १९३४ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी गैरकानूनी घोषित कर दी गयी तथा इस समय से भी कि हमने जो मुख्य आरांका व्यक्त की थी कि आन्दोलन के चरम बिंदु पर पहुंचने पर गांधी जी उसे फिर वापस ले लेंगे, सही सिद्ध हुई क्योंकि गांधी जी ने १९३१ के आरम्भ में आन्दोलन को स्थगित कर दिया। इस तरह अगर उन्होंने अवाम को आन्दोलित किया, तो उन्होंने आन्दोलन को रोकना भी और उसे उसकी चरम प्रहार शक्ति तक ले जाने में असफल रहे। उन्होंने १९२२ में मौका हाथ से निकल जाने दिया और फिर १९३१ में भी मौका निवत्त जाने दिया।

— इसलिए सवाल हमारे भीतर देशभक्ति की किसी तरह की कमी का नहीं था। अगर कोई बात थी तो यह कि हम लोग अधीर हो रहे थे और गांधीवादी संघन को तोड़ डालने के लिए कसमसा रहे थे। मसला था अपरिपक्वता का तथा परिस्थिति की वैचीदगियों की अपर्याप्त समझदारी का।

और वैचीदगियां क्या थीं? वैचीदगी इस बात में निहित थी कि जहां देश में निश्चय ही बिराट राष्ट्रीयी साम्राज्यवाद-विरोधी उभार आया हुआ था, जहां गांधी जी की नीति निश्चय ही उस उभार को नियंत्रण में रखने की थी, वहीं यह भी सही था कि गांधी जी जन-असंतोष को मुक्त कर रहे थे और साथ ही उस पर अंकुश भी लगा रहे थे, कि वह एक साम्राज्यवाद-विरोधी भूमिका अदा कर रहे थे, कि उन पर देश के भीतर राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत जनता

के बहुत बड़े बहुमत का विनाश और भरोसा था, और यह कि ऐसी स्थिति में हमारे लिए उनकी महाशक्तक भूमिका पर समुचित ध्यान देना, उनके नेतृत्व में बना रहे आन्दोलन में शामिल होना, उसे कानि-कारी रूप देना, तथा उन मजदूर-विमान शक्तियों को भी उन्मुक्त कर देना जरूरी था जो सीधे और पूर्णतः रूप में हमारे प्रभाव में थीं ।

हमारा यह दावा नहीं है कि यह काम आसान था । लेकिन अगर सही समझदारी रही होती तो इसमें संदेह नहीं कि स्वतंत्र-आन्दोलन को कानि-कारी पथ पर आगे ले जाने में, जिसकी हम हमेशा तीव्र कामना करते थे, हमने काफी सफलता प्राप्त की होती ।

१९३१ के आरम्भ में एक निहायन दिवस—गन्तुतः निदाप्रद—घटना घटी । गांधी जी ने परेल, बम्बई, में एक सभा सम्बोधित की । हम लोगों ने वहाँ प्रदर्शन किया और सभा के संगठनकर्ताओं ने सी. टी. रणदिवे को भाग देने के लिए बुलाया । गांधी जी रणदिवे के वाद बोले । उनके भाषण का (अंग्रेजी में अनूदित) सारांश यंग इण्डिया (२६ मार्च १९३१) में प्रकाशित हुआ । यहाँ मैं यंग इण्डिया से चंद्र वाक्य उद्धृत करूँगा :

“मैंने यहाँ नोजवान कम्युनिस्टों के पैदा होने के बहुत पहले ही मेहनत करने वालों के ध्येय को अपना ध्येय बनाया । मैंने अपने जीवन का सबसे अच्छा समय दक्षिण अफ्रीका में उन लोगों के लिए काम करते हुए बिताया । मैं उन्हीं लोगों के साथ रहा करता था और उनके सुख-दुख का साझीदार था । इसलिए आपको यह समझना चाहिए कि मैं मजदूरों की ओर से बोलने का दावा क्यों करता हूँ । ... मैं आपको आमंत्रित करता हूँ कि आप मेरे पास आये और जितना मुल कर बात करना चाहें करें ।

“... अगर आप देश को अपने साथ ले चलना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि आप उसके साथ तर्क-वितर्क कर उससे बात कह-सुन सकें । ... आज आप मुट्टीभर से ज्यादा नहीं हैं । ... मैं तो यह चाहता हूँ कि अगर आप कांग्रेस को बदल सकें तो बदल दें और इसका कार्यभार सम्हाल लें । ... अपने विचारों को पूरी तरह अभिव्यक्त करने की आपको खुली छूट है ।

“... अगर सम्मेलन में (यहाँ लंदन में हुए द्वितीय गोलमेज सम्मेलन का संदर्भ है जिसमें गांधीजी जाने वाले थे — श्री. स.) कांग्रेस अपना प्रतिनिधि भेजती है तो वह मजदूरों और किसानों के लिए स्वराज के सिवा और किसी स्वराज के लिए दवाव नहीं डालेगा ।

“... मैं आपको छोखा नहीं देना चाहता । मैं आपको आगाह कर देना चाहूँगा कि मेरे मन में पूँजीपतियों के प्रति कोई द्वेष नहीं है । किन्तु मैं

मह चाहता हूँ कि कष्ट सह कर उन्हें उनके कर्तव्य-बोध के प्रति जाग्रत कर दूँ।

... "ईश्वर ने आपको बुद्धि और प्रतिभा दी है। उनका सही उपयोग कीजिए। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने विवेक पर रोक न लगायें। ईश्वर आपकी सहायता करे।"

मह ठेठ गांधीवादी किस्म का भाषण है, पर किसी भी दृष्टि में कम्युनिज्म का प्रतिक्रान्तिकारी प्रत्याभ्यास नहीं है। इसके अलावा, गांधी जी यहां कम्युनिस्टों को खुली बहस के लिए आमंत्रित करते हैं और इस बात का साफ-साफ विश्वास दिलाते हैं कि वह खुली बहसों के जरिये युवा कम्युनिस्टों से कहीं अधिक विशाल जन समुदायों को अपने साथ ले चल सकने की स्थिति में हैं।

गांधी जी उस मीटिंग के बहुत जल्द बाद ही लंदन रवाना हो गये। वहां कई युवा, उदीयमान कम्युनिस्टों से उनकी बहस हुई, जिनमें श्रीमती सरोजनी नायडू के पुत्र भी शामिल थे। नीचे गांधी जी से पूछे गये कुछ सवाल और उनके जवाब प्रस्तुत हैं :

"आपके विचार से भारत के रजवाड़े, जमींदार, मिल मालिक, महाजन और दूसरे मालिकानं कैसे घनाढ्य बनते हैं?"

"अभी इस समय, जनता का शोषण करके।"

"अगर आप मजदूरों और किसानों को लाभ पहुंचाते हैं तो क्या आप वर्ग युद्ध से बच सकते हैं?"

"जरूर, निश्चय ही, बसों लोग अहिंसा की पद्धति पर चलें। हम अहिंसा की पद्धति से पूंजीपति को नहीं विनष्ट करना चाहते हैं, हम पूंजीवाद को विनष्ट करना चाहते हैं। हम पूंजीपति को इस बात के लिए आमंत्रित करते हैं कि वह स्वयं उनका अमानतदार बने जिन पर वह अपनी पूंजी के निर्माण, रक्षा और वृद्धि के लिए निर्भर करता है। अगर पूंजी शक्ति है, तो धर्म भी शक्ति है।"

"क्या इन (शोषक) वर्गों के पास इस बात का कोई सामाजिक औचित्य है कि वे उन साधारण मजदूरों और किसानों से ज्यादा आराम से रहें जिनके काम से उन्हें धन प्राप्त होता है।"

"कोई औचित्य नहीं।"

"आप अमानतदारों कैसे स्थापित करेंगे? क्या समझ-बुझ कर?"

"जबानी तौर पर समझ-बुझ कर ही नहीं। मैं अपने-साधनों पर ध्यान केन्द्रित करूंगा।... मेरा यह विश्वास है कि मैं क्रान्तिकारी हूँ— अहिंसात्मक क्रान्तिकारी। मेरा हथियार है असहयोग।"

“किसान और मजदूर को अपने भाग्य का निर्णय करने के हेतु पूर्ण सत्ता प्रदान करने के लिए ठोस रूप में आपका कार्यक्रम क्या है?”

“मेरा कार्यक्रम वही कार्यक्रम है, जिसे मैं कांग्रेस के जरिये तैयार कर रहा हूँ। मेरा पूरा विश्वास है कि इसके फलस्वरूप आज उनकी स्थिति उससे बेहद अधिक अच्छी है, जैसी हमारी याददाश्त में कभी भी रही है। मैं इस समय उनकी भौतिक स्थिति का उल्लेख नहीं कर रहा हूँ। मैं उनमें आयी अपार जागृति और उसके फलस्वरूप अन्धकार और शोषण का प्रतिरोध कर सकने की उनकी क्षमता का उल्लेख कर रहा हूँ।” (संग इटिया, २६ नवम्बर १९६१)।

इस सम्पूर्ण वार्तालाप में एक बार पुनः गांधी जी, उनके विचारों और उनकी नीतियों की गति और सीमाएँ, सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष, दोनों, सामने आ जाते हैं।

१९३३ से १९३६ के बीच भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और गांधी जी के संबंधों के बारे में कहने की कोई खास बात नहीं है। यह काल पुनः १९३४ में गांधी जी द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगित कर दिये जाने के बाद जन-आन्दोलन के उतार और ह्रास का काल था।

किन्तु साथ ही यह राष्ट्रीय आन्दोलन में पुनर्विचार का तथा नये विचारों के अंकुरण का काल था।

ब्रिटिश, जर्मन और चीनी कम्युनिस्ट पार्टियों ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को खुले पत्र लिखे जिसके साथ हमारी पार्टी द्वारा उस संकीर्णतावादी लीक से निकलने के लिए संघर्ष की प्रक्रिया शुरू हुई जिसने उसे राष्ट्रीय आन्दोलन के व्यापक प्रवाह से अलग कर दिया था।

दूसरी ओर से, अर्थात् कांग्रेस के भीतर से, नेहरू जी इतिहास के एक मात्र वैज्ञानिक दर्शन मार्क्सवाद के समर्थन में, कांग्रेस के लिए मूलगामी कृषि कार्यक्रम के समर्थन में, मजदूर वर्ग आन्दोलन के राजनीतिक महत्व के समर्थन में, और सर्वोपरि, इस बात के समर्थन में ज्यादा से ज्यादा खुल कर आने लगे कि भारत को सोवियत संघ और चीन, स्पेन आदि के नये क्रान्तिकारी उभार के साथ कंधे से कंधा मिला कर संपूर्ण-विश्व में चल रहे आम फासिस्ट-विरोधी संघर्ष में शरीक होना चाहिए।

पहली बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर एक जागरूक समाजवादी समूह का आविर्भाव होने लगा, जो कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नाम से पुकारा जाता था।

१९३५ में हुई कॉमिन्टर्न की सातवीं कांग्रेस ने भारत समेत संपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को एक नयी दिशा दी।

कांग्रेस ने युद्ध के बढ़ते हुए सतरे के खिलाफ, फासिज्म के उदय के खिलाफ, बढ़ते हुए साम्राज्यवादी आक्रमण के खिलाफ, जिसने सारे पिछड़े देशों के लिए यत्न रा पैदा कर दिया था, तथा सारे औपनिवेशिक और अर्ध-औपनिवेशिक देशों में स्वतंत्रता के लिए ब्यारक राष्ट्रीय मोर्चा बनाने के हेतु अंतर्राष्ट्रीय लोकप्रिय एगता का जो आह्वान किया, उसका न सिर्फ भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पर बल्कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर के वामपंथी तत्वों पर भी प्रभाव पड़ा। सातवीं कांग्रेस के बाद दस-ब्रह्मे प्रस्थापना ने भी इस प्रक्रिया को बढ़ावा दिया।

हमारी पार्टी ने अनवरत एक नयी साइन तैयार की जो राष्ट्रीय मोर्चे की साइन पुकारती जाती थी। इससे सातवीं कांग्रेस से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ होने के बीच अत्यंत ठोस नतीजे सामने आये।

हम लोगों ने शक्तिशाली ट्रेड यूनियनों, किसान सभाएं, छात्र और युवक संगठन निर्मित किये, देश के अधिकांश प्रांतों में पार्टी को फैलाया, राष्ट्रव्यापी पैमाने पर काम करने वाला एक पार्टी केन्द्र कायम किया, सारे देश में असंख्य जुझारु जन संपर्क संगठित किये, अधिकांश भारतीय भाषाओं में पार्टी पत्र निकालने शुरू किये और उन्हें लोकप्रिय बनाया।

स्वभावतः हमने जो कुछ किया वह इतना ही नहीं था। हम कांग्रेस में फिर दाखिल हुए, निश्चय ही कम्युनिस्ट शक्ति के रूप में, सबसे सुसंगत वामपंथी शक्ति के रूप में, किन्तु साथ ही कांग्रेस के भीतर सारी साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों को एकता में बांधने की कोशिश करने के उद्देश्य से भी।

हमने राष्ट्रीय पंचोपनिषत्त का भी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की, सकारात्मक, साम्राज्यवाद-विरोधी भूमिका को स्वीकार किया और उसे अपनी आलोचनात्मक भूमिका, मूलगामी बनाने वाली भूमिका, के साथ संयुक्त किया।

स्वयं गांधी जी के संबंध में हमारी आलोचना अधिक वस्तुनिष्ठ और संतुलित हो गयी। उनके विचारों और नीतियों के खिलाफ वैचारिक और राजनीतिक संपर्क जरूरी था और वह खलाया गया। किन्तु हमारे और उनके बीच समानता के मुद्दे भी थे और आम तौर पर हमने यह दृष्टिकोण अपनाया कि उनके साथ अपने सारे मतभेदों के बावजूद हम यह चाहते हैं और उनसे यह अपेक्षा करते हैं कि वह एक संयुक्त, साम्राज्यवाद-विरोधी स्वातंत्र्य आन्दोलन के नेता की भूमिका अदा करें। हमने यह दृष्टिकोण अपनाया कि हिंसा और

अहिंसा का प्रश्न इस प्रकार के आन्दोलन में हमारे एक अनुमानित नतिक होने की राह में कोई बाधा नहीं बनेगा, बस यह उसके कार्यक्रम और नीतियाँ ऐसी हों जिन पर संपूर्ण कांग्रेस सहमत हो—जिसमें वामपंथी शक्तियाँ एक आवश्यक और अपेक्षित अंग के रूप में सम्मिलित हों।

एक व्यापक रूप में, किन्तु टकरावों के साथ, कांग्रेस के अन्दर हमारी पार्टी, कांग्रेस सोमलिस्ट पार्टी, नेहरू और गुमान के बीच एक किसिम का सम्बन्ध विकसित हुआ। कुछ बिना कर इसने कांग्रेस के अन्दर एक काफी बड़ी शक्ति का रूप धारण कर लिया, यद्यपि नेतृत्वकारी शक्ति का रूप नहीं।

इस काल में, और हकीकत यह है कि १९४८ में, मुजरिमाना तरीके से दरबपटल से उनके हटा दिये जाने तक गांधी जी का जो विकास हुआ, उसका अभी तक किये गये अध्ययन से अधिक परिपूर्णता और सावधानी के साथ अध्ययन किया जाना जरूरी है।

मेरे कहने का अर्थ यह है कि इस सारे काल में यह अनेक प्रश्नों पर १९३६ के पहले की तुलना में अधिक मूलगामी स्थितियों की ओर गिराव आये थे। साथ ही जहाँ नेतृत्व का प्रश्न उठता, यह १९३६ के पहले में ज्यादा सचेत और दृढ़ रूप में वामपक्ष की शक्तियों के खिलाफ उठ रहे होते रहे।

"शुद्ध" तर्क की दृष्टि से यह बखूबी और अंतर्विरोधपूर्ण प्रतीत हो सकती है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से, मेरे विचार से इसकी संवंधा व्याख्या की जा सकती है। गांधी जी कार्यक्रम के प्रश्नों पर और संघर्ष के तरीके और रूप के प्रश्न पर वामपंथी शक्तियों से आजीवन एक संघर्ष चलाते रहे। किन्तु वह चतुर और सक्षम थे और यह समझते थे कि आन्दोलन के विकास के अनुरूप वामपंथ की कार्यक्रम संवंधी कुछ मांगों को वह चाहे स्वीकार कर लें और अहिंसा के प्रश्न पर भी चाहे समझौता कर लें, लेकिन किसी भी हालत में आन्दोलन का नेतृत्व वामपंथी शक्तियों के हाथ में समर्पित करने को तैयार नहीं थे। मेरे विचार से १९३६ से १९४८ के बीच उन्होंने यही किया और इस अर्थ में 'सफलतापूर्वक' किया कि उन्होंने संपूर्ण आन्दोलन का नेतृत्व कभी अपने हाथ से जाने और वामपंथियों के हाथों में पहुंचने नहीं दिया।

मिसाल के लिए, इस बात का कोई सवाल ही नहीं उठता कि कृषि के प्रश्न पर वह वामपंथी दिशा में बढ़े थे।

१९२२ में चोरी-चौरा कांड के बाद असहयोग आन्दोलन को वापस लेने के बाद उन्होंने केवल हिंसा का ही मुंहफट तरीके से विरोध नहीं किया। वह जमींदारों को लगान देने वाले खेतिहर काश्तकारों के खिलाफ भी उतने ही मुंहफट तरीके से बोले जबकि यह आन्दोलन चोरी-चौरा के पहले उत्तर प्रदेश में दावागिरी की तरह फैलने लगा था। वास्तव में उनका दो-दूक दृष्टिकोण

महंगा कि चाहे जितने अहिंसात्मक तरीके से जमींदारों को लगान न दिया जाये, वह हिंसा है।

इस तरह उनके लिए अहिंसा मात्र भौतिक ही नहीं थी। जिस किसी बात से देश में वर्ग संघर्ष तेज हो, चाहे वह भौतिक दृष्टि से कितनी भी अहिंसात्मक क्यों न हो, वह भी हिंसा थी। और इस स्थिति से वह अपनी मृत्यु तक टस से मस नहीं हुए।

किन्तु १९३२ में उन्होंने सेतिहर काश्तकारों द्वारा जमींदारों को उतनी लगान के न दिये जाने की स्वीकृति दे दी थी, जितनी जमींदारों द्वारा सरकार को अदा की जानी हो। यह बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण सालमेल था क्योंकि इससे एक ओर जमींदारों के खिलाफ काश्तकारों के असंतोष के अभिव्यक्त होने की गुंजाइश हो गयी, दूसरी ओर उग्रके आन्दोलन को नियंत्रण में बनाये रखने में मदद मिली।

१९३४ में उन्होंने हाल ही में निर्मित कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कार्यक्रम के सम्बंध में पूछे गये, कर्द्ध-प्रश्नों का जवाब देते हुए कहा : "मैं जमींदारों और काश्तकारों के बीच सम्बंध की समाप्ति के पक्ष में नहीं बल्कि उसके न्यायपूर्ण नियमन के पक्ष में हूँ।" (भा.सो.सि.पत्र, मो.क.गाथी, पृष्ठ ६)।

किन्तु १९३७ में 'सबहि भूमि गोपाल की' जैसे सिद्धान्त पर उन्होंने इस प्रकार के बयान देने शुरू कर दिये कि : "भूमि और सारी सम्पत्ति उसकी है जो उस पर काम करे। दुर्भाग्य से, मजदूर इस सीधे-सादे तथ्य से अपरिचित हैं या रखे गये हैं।" (हरिजन, २० फरवरी १९३७)।

पुनः, १९४० में जयप्रकाश नारायण द्वारा तैयार किये गये एक प्रस्ताव का समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा : "किसी व्यक्ति को प्रतिष्ठा के साथ जीवन-निर्वाह के लिए जितनी जमीन जरूरी हो उससे अधिक जमीन उसके पास नहीं होनी चाहिए। इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि जनता की दुःसह गरीबी का कारण यह है कि उसके पास ऐसी जमीन नहीं है जिसे वह अपनी बह सके ?" (हरिजन, २० अप्रैल १९४०)।

पुनः वह लिखते हैं :

"किपान का स्थान पहला है, चाहे वह भूमिहीन मजदूर हो या भूमि का मेहनतका मालिक। यह उस धरती की असली संतान है जो उचित ही उसकी है या उसकी होनी चाहिए, न कि अन्यत्र जाकर रहने वाले जमींदार की। किन्तु अहिंसात्मक पद्धति में मजदूर अन्यत्र जाकर रहने वाले जमींदार को बलपूर्वक निष्कासित नहीं कर सकता। उसे इस तरह काम करना पड़ेगा कि जमींदार के लिए उनका गोपण कर बनना

असंभव हो जाये। किसानों के बीच पणिष्ठानम सहयोग परम आवश्यक है। इस कार्य के लिए विशेष संगठन निकायों या समितियों का निर्माण किया जाना चाहिए।...जहाँ ये भूमिहीन मजदूर हों, वहाँ उनका वेतन ऐसे स्तर पर रखा जाना चाहिए जिससे उनके लिए निष्ठ जीवन की गारंटी हो सके—जिसका अर्थ होगा मंगुलिन-भोतन, दिहायशी मकान और वस्त्र, जिनसे स्वयं आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।” (बॉम्बे क्रान्तिक, २८ अक्टूबर १९४४)।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में १९४६ में मुई फिगर को दी गयी भेंटवार्ता में उन्होंने यहाँ तक कहा कि मैं यह चाहता हूँ कि किसान जमींदारों की जमीनों पर भौतिक रूप में कब्जा कर लें। मुई फिगर को यह वक्तव्य प्रीतिकर नहीं लगा और उन्होंने पूछा कि ऐसी नीति में यह जमींदारों से सहयोग की कैसी आशा करते हैं। गांधी जी ने फाफी कटुता के साथ जवाब दिया : “मुमकिन है, भाग सड़े होकर।”

बेशक वह अंत तक अमानतदारी के बारे में, समझा-बुझा कर और प्रेम से, संपत्ति के स्वामियों का हृदय परिवर्तन करने की बात करते रहे। किन्तु कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि अपने जीवन के अंतिम वर्षों में वह ‘समझाने-बुझाने’ की जो बात करते थे और इस विषय में वह पहले जो विचार रखते थे, उन्हें एक मान सकना मुश्किल है।

आम तौर पर भी, अमीरी और गरीबी, धनी और निर्धन की समस्या पर गांधी जी के कथनों में एक तीखा, अपरिचित, नया स्वर उभर आया था। यहाँ कुछ कथन पेश हैं :

“आर्थिक समानता अहिंसात्मक स्वाधीनता की अमोघ कुंजी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ है पूंजी और श्रम के बीच शाश्वत संघर्ष को समाप्त करना। इसका अर्थ है एक ओर उन चन्द धनिकों का स्तर नीचे लाना जिनके हाथ में राष्ट्र का ऐश्वर्य केन्द्रित है, और दूसरी ओर अधभूखे, नंगे लाखों लोगों का स्तर ऊँचा करना।... नयी दिल्ली के प्रासादों और पास के ही मेहनतकश वर्ग की दयनीय भोपड़ियों की विषमता स्वतंत्र भारत में एक दिन भी कायम नहीं रह सकती क्योंकि तब देश के गरीबों को वही अधिकार प्राप्त होंगे जो धनी से धनी लोगों को। और धन को, और धन से प्राप्त सत्ता को, यदि स्वेच्छा से विसर्जित नहीं किया गया और आम भलाई के लिए उनकी हिस्सेदारी नहीं की गयी, तो एक दिन हिंसात्मक और रक्तंजित क्रान्ति का होना निश्चित है।” (माइ-सोशलिज्म, पृ. २५-२६)।

और आये :

“आज घोर आर्थिक विषमता है। समाजवाद का आधार आर्थिक समानता है। अन्वयपूर्ण विषमताओं की मौजूदा परिस्थिति में, जिसमें पंच लोग धन-वैभव में सिर तक डूबे हैं और जनता को खाने की भी नहीं मिलता, रामराज्य नहीं कायम हो सकता।” (हरिजन, १ जून १९४७)।

पुनः

“मूलभूत उद्योगों का नाम गिनाये बिना मैं यह चाहूंगा कि जिनमें बहुत बड़ी संख्या में लोगों को साथ-साथ काम करना पड़ता हो, वे राज्य के स्वामित्व में हों। उनके श्रम से निमित्त चीजों का स्वामित्व, चाहे वह कुशल श्रम हो या अकुशल, राज्य की संपत्ति उनके हाथों में होगा।” (हरिजन, १ सितम्बर १९४६)।

गांधी जी ने जो सामाजिक आर्थिक परिवर्तन लाने की कल्पना की थी, उसके तरीकों के मामले में भी हम देखते हैं कि वह देश के घनाध्य संपत्ति-धारियों के खिलाफ भी सत्याग्रह के हथियार के इस्तेमाल की कल्पना करने लगे थे।

- उन्होंने लिखा है :-

“अंतिम विदलेपण में कम्युनिज्म का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है एक वर्गहीन समाज—एक ऐसा आदर्श जिसके लिए प्रयास करना वांछनीय है। मैं इससे तभी अलग हो जाता हूँ जब इसकी प्राप्ति के लिए शक्ति की सहायता लेने का सवाल उठता है।” (हरिजन, १३ मार्च १९३७)।

नीचे दिया गया उद्धरण अत्यंत दिलचस्प है :

“अगर विधान-मंडल किसानों के हितों की रक्षा कर सकने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं तो निस्संदेह उनके पास सदा सविनय अवज्ञा और असहयोग का सर्वोच्च उपचार, रहेगा। क्योंकि... अंततोगत्वा कांग्रेसी कानून या बहादुरी से भरी बातें या जोशीले भाषण नहीं, बल्कि अहिंसा-त्मक संगठन, अनुशासन और त्याग की शक्ति ही अन्वय और उत्पीड़न के खिलाफ जनता का सच्चा सहारा है।” (ग्रॉन्वे क्रॉनिकल, १२ जनवरी १९४५)।

यह प्रश्न पूछे जाने पर कि “धनी लोगों को गरीबों के प्रति अपने कर्तव्य का जोष-कराने में सत्याग्रह का क्या स्थान है?” गांधी जी ने जवाब दिया : “वही जो विदेशी सत्ता के-खिलाफ। सत्याग्रह सार्वभौम प्रयोग सामक एक नियम है।” (हरिजन, ३१ मार्च-१९४६)।

कोई भी देना सकता है कि इन गिरावटों के पीछे शक्ति मानना और इनकी अंतर्दृष्टि पीछे दशक के मध्य तक गांधी जी द्वारा अपनायी गयी गिरावटों से स्पष्टतः भिन्न है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मध्य—पूर्ण स्वाधीनता—के सवाल को ही ले लीजिए। कांग्रेस द्वारा १९२६ में लाहौर अधिवेशन में ग्वांशुत किये जाने के वर्षों बाद गांधी जी इसे "स्वाधीनता का निषेध", "आत्मा की युद्ध" आदिन जाने क्या-क्या कहा करते थे। किन्तु १९४२ में जब उन्होंने स्वाधीनता का अंतिम संग्राम देखा, तब उन्होंने महज इतना ही कहा : "स्वाधीनता का अर्थ है भारत छोड़ो", जो शासक ब्रिटिश शक्त को मुंह मारना करने के लिए सीधा नोटिस था।

अहिंसा के प्रश्न पर भी यह स्पष्टतः गिद्ध तथ्य है कि १९४२ के आन्दोलन में उन्होंने व्यवहारतः अपने अनुयायियों के हिंसात्मक तरीकों की भी तत्परदारी की, किन्तु अपने नेतृत्व के पहले के आन्दोलनों में उन्होंने ऐसा कभी नहीं किया था।

बहुत बढ़-चढ़ कर न सही, किन्तु जब जेल में वाट्सराय ने उन्हें बाहर उनके अनुयायियों द्वारा किये जा रहे तोड़फोड़ के हिंसात्मक कार्यों का साक्ष्य देते हुए पत्र लिखा, तो उन्होंने यह सपाट जवाब दिया कि जो शासक सारे आन्दोलन को निर्मम बल-प्रयोग द्वारा कुचल रहे हैं, उनके लिए बेहतर यह होगा कि स्वातंत्र्य योद्धाओं द्वारा की गयी हिंसा की बात करने के पहले वे स्वयं अपनी पाशाविक हिंसा को बंद करें।

स्थानाभाव के कारण मैं बहुत अधिक साक्ष्य नहीं दे सकता हूँ। लेकिन मैं मानता हूँ कि यह साबित करने के लिए आवश्यक साक्ष्य मौजूद हैं कि जन-आन्दोलन की बढ़ती शक्ति और नयी चेतना के प्रभाव के अन्तर्गत (जिसमें निस्संदेह हमारी पार्टी ने सर्वाधिक योगदान किया) तथा नेहरू के विचारों के प्रभाव के फलस्वरूप, गांधी जी चौथे दशक के मध्य से आगे अपनी स्थिति वाम-पक्ष की ओर बदलते गये। उन्होंने वामपंथ से, जो कुछ अपने दृष्टिकोण से उचित समझा, ग्रहण किया।

समानतः, वही गांधी जी देश में और कांग्रेस के भीतर बढ़ती हुई वामपंथी शक्तियों से अपने नेतृत्व के लिए उत्पन्न चुनौती का अधिकाधिक दृढ़ता और तीक्ष्णता के साथ जवाब देने लगे।

सच बात तो यह है कि यह पहला मौका था जब उनके सामने इतनी गंभीर चुनौती खड़ी हुई थी। हालांकि १९२२, १९३१ और १९३२ में निश्चय ही उनका ऐसी जनता से मुकाबला पड़ा जो अपने स्वयंस्फूर्त, क्रान्तिकारी जोश के कारण उनके काबू से बाहर निकली जा रही थी, पर उन तीनों मौकों पर

किसी जागरूक और संगठित वामपंथी नेतृत्व ने उनके सामने ऐसी कोई चुनौती नहीं पेश की थी। सीधी-सादी बात यह थी कि उस समय वामपंथ इतना कम-जोर था कि कोई चुनौती मंहीं पेश कर सकता था।

इसी अर्थ में चौथे दशक के मध्य के बाद स्थिति तेजी से बदलने लगी। कांग्रेस के भीतर का कम्युनिस्ट और गैर-कम्युनिस्ट वामपक्ष, उनके नेतृत्व में नया मजदूर-किसान और छात्र उभार, जिसे नेहरू जी की भूमिका से व्यापक तौर पर आड़ मिल जाती थी, अब न केवल मूलगामी सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक मांगें रखने लगे थे, बल्कि एक वैकल्पिक, राष्ट्रीय, साम्राज्यवाद-विरोधी नेतृत्व का भी सृजन कर रहे थे।

गांधी जी ने स्वातंत्र्य आन्दोलन में गुणात्मक दृष्टि से इस नये विकास के प्रति किस प्रकार सहज बोध से और चतपट प्रतिक्रिया की, यह १९३४ में ही, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के निर्माण के बहुत ही जल्द बाद, उनकी प्रतिक्रियाओं से देखा जा सकता है।

१७ सितम्बर १९३४ को उन्होंने यह वक्तव्य जारी किया कि "अगर कांग्रेस के अन्दर कांग्रेस-सोशलिस्ट अपनी अगुवायी कायम कर लेते हैं, जैसा कि वे बखूबी कर सकते हैं, तो मैं कांग्रेस में नहीं रह सकता।"

ऐसे वक्तव्यों का सिलसिला और नेहरू जी के साथ प्रायः निर्ममता की हद तक बह खरा पत्राचार १९३५, १९३६, १९३७ और आगे चलता रहा जिसमें उन्होंने कहा था कि नेहरू जी के प्रति अपने समस्त प्रेम के बावजूद अगर नेहरू जी ने अपने विचारों और अभियान को जारी रखा तो उनसे उन्हें संबंध-विच्छेद करना पड़ेगा।

१९३८ में कठोर परीक्षा का मौका आया। गांधी जी ने कांग्रेस के आगामी अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिए, जो त्रिपुरी में होने वाला था, पट्टाभि सीतारमैया का नाम प्रस्तावित किया। कांग्रेस के भीतर की वामपंथी शक्तियों ने संयुक्त होकर सुभाष बोस को अपना उम्मीदवार बनाया। सीतारमैया के खिलाफ कांग्रेस प्रतिनिधियों ने सुभाष बोस को विजयी बनाया।

गांधी जी ने बहुत ही तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने कहा कि यह सीतारमैया की नहीं स्वयं उनकी अपनी पराजय है, और (१९२० में कांग्रेस का नेतृत्व संभालने के बाद पहली बार) त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुए।

बाद के महीनों में किम तरह कांग्रेस का सम्पूर्ण दक्षिणपंथी नेतृत्व कांग्रेस के अध्यक्ष पद से सुभाष को भगा देने के लिए (निस्संदेह, बड़े "अहिंसात्मक" ढंग से) संयुक्त हो गया और उनकी जगह श्रीमती नायडू को निर्वाचित करवा लिया, यह कहानी इतनी सुविदिन है कि इसे दुहराने की जरूरत नहीं।

इस यात्रा के असाध्य उदाहरण दिये जा सकते हैं कि बाद के वर्षों में डाकड़ों और जहाजों के नेत्रों का प्रश्न उठता था, किम प्रकार गांधी जी निष्पत्त के साथ अड़ जाते थे। यह सब भाग और पर काँधों के लिए 'समस्त' नेत्रों की आवश्यकता के नाम पर तथा काँधों को 'गुद करने' के नाम पर किया जाता था।

ऐसे में गांधी जी, समस्त गुजरने के साथ-साथ बढ़ती हुई जन-जागृति और जनता की मांगों के साथ तरुण-तरुण में तात्कालिक बैठक में समर्थ, संघर्ष के तरीकों पर तात्कालिक बैठक में समर्थ, लेकिन ऐसे मौकों पर अशरकः तिरंगे जहाँ उनके हाथों में आन्दोलन के मूकों के बने रहने का सवाल उठता।

मेरे विचार से इससे पुनः उनकी दुहरी भूमिका सामने आती है : राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए जन दबाव को बढ़ाना और उसे उन्मुक्त करना, किन्तु आन्दोलन और उसके निर्देशन को अपने नियंत्रण में रखना, जिन्हा ऐतिहासिक विस्लेषण की दृष्टि से अर्थ था राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के निर्देशन और नियंत्रण में रखना।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने १९४० के आरम्भ में, द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ होने के फौरन बाद, गांधीवाद पर एक प्रबंध जारी किया था। उसे गंगाधर अधिकारी ने लिखा था और आज भी वह भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा की गयी गांधीवाद और उसकी भूमिका की सबसे व्यापक मीमांसा है। (१९५६ में ई. एम. एस. नन्मूद्रिपाद द्वारा लिखित "गांधी जी और उनका वाद", एक व्यक्तिगत प्रयास था)।

उक्त मीमांसा का मूल सूत्र यह है कि गांधी जी और गांधीवाद ने अपने पहले चरण में, अर्थात् प्रथम विश्व युद्ध के बाद के असहयोग आन्दोलन के काल में, एक प्रगतिशील, यहाँ तक कि जंगलू, निम्न-पूँजीवादी भूमिका भी अदा की। १९३०-३३ में गांधीवाद अपने इतिहास के चरम बिंदु पर पहुँच गया, किन्तु साथ ही राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के साथ घुल-मिल गया। बाद के वर्षों में (अर्थात् १९४० के आसपास) गांधीवाद अत्यंत ह्रासोन्मुख हो गया और पूँजीपति वर्ग के हाथ में आत्मसमर्पण और तोड़-फोड़ का हथियार भर रह गया।

उक्त मीमांसा विषय की एक वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ मीमांसा है, जो बड़े प्रयास के साथ लिखी गयी है और आज भी बहुमूल्य है। किन्तु स्पष्टतः १९४० से १९४८ के बीच की गांधी जी की नीतियाँ और कार्य इस मूल्यांकन की पुष्टि नहीं करते कि गांधीवाद १९४० तक सर्वथा निपेधात्मक बन चुका था। सो, पुनः वह हमारी पकड़ से बच निकले।

सोवियत संघ पर नाजी हमले के बाद हमने युद्ध का चरित्र-निरूपण लोक

युद्ध के रूप में किया। फलतः हमारी पार्टी की लाइन और कांग्रेस द्वारा शुरू किये गये अगस्त १९४२ के संघर्ष के बीच पैदा हो गये विरोध के कारण गांधी जी और कांग्रेस के साथ हमारे सम्बंधों में नये तनाव उठ खड़े हुए। इसके बाद ऐसे सर्वथा नये, उलझे हुए और अप्रत्याशित घटनाक्रम के साथ युद्धोत्तर काल आया, जिसके फलस्वरूप देश विभाजित हो गया तथा भारत और पाकिस्तान के दो स्वाधीन राज्यों की सृष्टि हुई।

इस काल में गांधी जी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सम्बंधों के क्षेत्र में मुख्य घटना थी गांधी-जोशी पत्र-व्यवहार (पी. सी. जोशी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के उस समय महासचिव थे)।

आज इतने समय बाद उस पत्र-व्यवहार को पढ़ने पर बड़ा अड़बा लगता है।

निश्चय ही हमारी लोकरू-युद्ध वाली लाइन तथा यह मंतव्य कि पाकिस्तान की मांग भारतीय मुसलमानों की जनवादी, राष्ट्रीय मांग है, गांधी जी के गले के नीचे नहीं उतरती थी और उन्हें विरक्तिकर लगती थी।

किन्तु इन राजनीतिक विषयों पर दोनों व्यक्तियों के बीच कोई विचार-विमर्श हो सकने के पहले ही गांधी जी ने जोशी के पास भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नैतिकता (!) और ईमानदारी (!) के बारे में कुछ सवाल पेश किये, जिनमें इस प्रकार के नासमझी के सवाल भी शामिल थे कि क्या कम्युनिस्ट पार्टी अपने सदस्यों को गोमांस खाने को मजबूर करती है।

अगर गांधी जी को हमारे राजनीतिक मंतव्य विरक्तिकर लगे तो यह बिलकुल सही और जायज था कि गांधी जी के सवाल जोशी को और अधिक विरक्तिकर लगते। इन सबसे सिर्फ यही प्रकट हुआ कि गांधी जी ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में कम्युनिस्टों के बारे में कितने गहरे और असोभनीय पूर्वग्रह विकसित कर लिये थे।

इस प्रकार यह पत्र-व्यवहार वस्तुतः कम्युनिस्टों और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नैतिकता (!) के सवालों पर है। इसमें किसी राजनीतिक मंसले पर विचार नहीं हुआ है।

यह कह देना बांछनीय और आवश्यक है कि गांधी जी द्वारा उठाये गये नैतिक मसलों पर जोशी के उत्तर किसी भी स्वतंत्र और निष्पक्ष दृष्टिकोण से सर्वथा तर्कसम्मत हैं। गांधी जी ने अपने एक पत्र में यह स्वीकार किया कि कम से कम भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के आर्थिक साधनों के बारे में पूर्णतः संतुष्ट हैं। उन्होंने यह भी लिखा: "अगर मैं पूर्वग्रहों से मुक्त होता तो मुझे आपके जवाबों को स्वीकार कर लेने में कोई हिचक नहीं होती। लेकिन मेरी

मुश्किल ईमानदारी की है और मैं आपकी सहानुभूति चाहता हूँ। ... मैं मंती-कार करता हूँ कि मैं पूर्वग्रहों में पड़ता हूँ।"

जोशी ने गांधी जी द्वारा उठाये गये सवालियों को जांचने-परागने के लिए गांधी जी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दोनों के विश्वासपात्र स्वतंत्र निर्णायकों की नियुक्ति के लिए अनेक प्रस्ताव रये। गांधी जी ने ही मुझव को स्वीकार नहीं किया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वस्तुतः दम काटदायी पत्रानकार के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ही नैतिक दृष्टि में निष्कलंक रूप में सामने आयी, महात्मा गांधी नहीं।

किन्तु तत्कालीन ज्वलंत राजनीतिक प्रश्नों की दृष्टि से पत्र-व्यवहार का कोई खास महत्व नहीं था।

: ७ :

अभी तक हमने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन के संदर्भ में गांधी जी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के व्यापक प्रश्न पर विचार किया है। इस प्रश्न का एक और पक्ष है जिसका विवेचन जरूरी है।

हमारी पार्टी का यह विचार था—और ठीक ही था—कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए भारतीय जनता के संघर्ष में उसकी एकता निर्मित करने की समस्या बुनियादी तौर पर देश के भीतर साम्राज्यवाद-सामंतवाद और उन अन्य सामाजिक तत्वों के खिलाफ जो साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे, भारत में साम्राज्यवाद-विरोधी वर्गों की एकता कायम करने की समस्या है।

भारतीय परिस्थितियों में लागू करने पर हमारी स्थिति यह थी कि हमारा दायित्व, राष्ट्रीय आन्दोलन का दायित्व, यह था कि मजदूर वर्ग के नेतृत्व में मजदूरों और किसानों की सुदृढ़ मंत्री का निर्माण किया जाता जो अपने साथ निम्न-पूंजीपति वर्ग को तथा राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के साम्राज्यवाद-विरोधी तबकों को ले चलती हो (मैं इस विषय पर अपनी भ्रांति से संबंधित मुद्दे की दुबारा चर्चा नहीं करूंगा कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के कौन से तबके साम्राज्यवाद-विरोधी थे अथवा नहीं थे, तथा उनका साम्राज्यवाद-विरोध किस हद तक और कितनी मात्रा में था, आदि)। मैं इस बात को लक्षित कर रहा हूँ कि राष्ट्रीय एकता की हमारी अवधारणा बुनियादी तौर पर वर्गों की—साम्राज्यवाद-विरोधी, सामन्तवाद-विरोधी वर्गों की—मंत्री की अवधारणा थी। और हम यह मानते थे कि इस मंत्री को साम्राज्यवाद का तथा भारत में उसके सामंती मित्रों का मुकाबला करना था।

यह समझदारी; समस्या का इस तरह प्रस्तुत किया जाना, 'सही' था? यह सर्वथा सही था ।

पर यह तथ्य अपनी जगह कायम है कि जब कोई किसी पिछड़े देश में लड़ाकू वर्गों को एरत्ता कायम करने बसता है तो वह पाता है कि युगों पुराने अतीत के इतिहास ने उन वर्गों को ऐसी अगणित जमातों, श्रेणियों और लगावों में विभाजित कर रखा है, जो उस वर्ग-मैत्री को आरपार विदीर्ण कर देते हैं जिसका हम निर्माण करने चले हैं । ये सामाजिक विभाजन और लगाव अत्यन्त घोर, गहराई तक मूलबद्ध और दृढ़ होते हैं ।

यदि हम सामान्य से दृष्टि पर आ जायें तो जिस भारत को आजादी की मंजिल तक से जाना था, वह पहले से ही घर्मे (मुख्यतः हिन्दू और मुस्लिम) द्वारा विभक्त था, वह जाति द्वारा विभक्त था, स्पृश्यता और अस्पृश्यता द्वारा विभक्त था, वह जनजातीय और गैर-जनजातीय लोगों में विभक्त था, वह असंख्य भाषाओं में विभक्त था, आदि ।

इस तथ्य से स्थिति और जटिल हो गयी थी कि साम्राज्यवाद आम तौर पर, और ब्रिटिश साम्राज्यवाद खास तौर पर, जनता के एक तबके को दूसरे के खिलाफ लड़ाने के लिए, उनके बीच संघर्ष भड़काने और बढ़ाने के लिए, राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्षरत शक्तियों को तोड़ने-फोड़ने और परास्त करने के लिए पिछड़े देशों में ऐसे विभाजनों को सदा उपयोग करता था (जैसा कि वह आज भी करता है) । ब्रिटिश साम्राज्यवाद तो "फूट डालो और राज्य करो" के लिए सदा विख्यात रहा है ।

हमने इस वास्तविकता पर किस हद तक ठोस रूप से विचार किया ? हमने अपने देश के स्वातंत्र्य-अभियान में ऐसी समस्याओं के ठोस, संक्रमण-कालीन, हल (पूर्ण हल तो केवल समाजवाद में ही संभव है और वह भी संवे प्रयास के बाद) निकालने के लिए किस हद तक यत्न किया ?

मुझे भय है, निश्चय ही बहुत कम ।

ऐसा नहीं है कि हमने अपनी दस्तावेजों में इनमें से कुछेक का उल्लेख नहीं किया । हमने उल्लेख किया । भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संघर्ष के कार्यक्रम के मसविदे (१९३०) में 'अशूरी' पर एक खंड था । इसमें "जाति प्रथा और हर प्रकार की जातीय विषमताओं के पूर्ण उन्मूलन" की मांग की गयी थी । उसमें "सारे नागरिकों की पूर्ण समानता की, चाहे वे किसी भी लिंग, धर्म और जाति के क्यों न हों", मांग की गयी थी । कार्यक्रम के मसविदे में "राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों तथा उनके आत्मनिर्णय के अधिकार का जिसमें 'पूर्ण अलगाव का अधिकार भी शामिल है' उल्लेख किया गया था, किन्तु यह नहीं स्पष्ट किया गया था कि वे

“राष्ट्रीय अन्तर्गतक” शीर्षक है जिन्हें भारतनिर्देश के अधिकार का प्रयोग करना है।

किन्तु हम जिन लोगों को राष्ट्रीय-जनवादी साक्षात्कार-विरोधी शक्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं, उन्हें एकता में बांधने के उद्देश्य से इन विचारकों को दूर करने के लिए हमने व्यवहार में क्या किया ?

हमें सारी बात कहनी चाहिए और आत्म-भावोपना करने को संवार देना चाहिए। १९४० के बाद के काल के अन्तर्गत (जब हमने लोगों का हृत्ताप उठाया और यह भी ऐसे तरीके से जो उदासीनी नहीं मान्य हो सका) हमने इन समस्याओं पर गम्भीरता से कोई ध्यान नहीं दिया।

हमें अपने बारे में अपने उस व्यवहार के आधार पर निर्णय करना है, जो भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति के पहले कम से कम दस दशकों तक चलता रहा।

और, हमारे व्यवहार में यह समझदारी परिलक्षित हुई कि अगर हमने मजदूरों और किसानों को उनकी समस्त मांगों के लिए गुन्धारू तरीके से लड़ने को संगठित किया और उन्हें नेतृत्व प्रदान किया (जो निश्चय ही हमने किया और जिसका श्रेय लेने का हमें पूरा अधिकार है), तो धर्म, जाति, अस्पृश्यता, भाषा आदि पर आधारित विभाजन कालान्तर में किसी न किसी प्रकार समाप्त हो जायेंगे। यदि सही शब्द का प्रयोग किया जाये तो यह जुझारू अर्थवाद था।

हमने इस बात को कभी सीधे नहीं कहा है, किन्तु अगर कोई निष्पक्ष निर्णायक हमारे संपूर्ण कार्यकलाप और आन्दोलन के आधार पर हमारे बारे में निर्णय करे तो वह यही कहेगा।

इस माने में क्या उस भारतीय एकता के निर्माण के दायित्व की गांधी जी की समझदारी, जिसके लिए उन्होंने भी अपनी पूरी शक्ति लगायी, क्या हमारी समझदारी से कहीं अधिक समृद्ध नहीं थी ? क्या वह इस दायित्व की जटिलताओं और पेचीदगियों को हमसे बेहतर नहीं समझते थे ?

उन्होंने सारी जिन्दगी इस हद तक हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अभियान चलाया और संघर्ष किया कि अन्ततः इसी ध्येय के लिए शहीद हो गये।

अगर राय के उन दिनों के शब्दों का प्रयोग किया जाये जब वह आग उगलने वाले ‘वामपंथी’ कम्युनिस्ट थे, तो क्या ये सब गांधी जी के ‘धार्मिक पुनरुत्थानवाद’ के प्रयास थे ?

खुशकिस्मती से हमारे लिए परोक्ष रूप से इस सवाल का जवाब स्वयं लेनिन ने दे दिया है।

भारतीय क्रान्तिकारियों को २० मई १९२० को भेजे गये एक संदेश में लेनिन ने कहा था : “हम मुस्लिम और गैर-मुस्लिम तत्वों की घनिष्ठ मैत्री का

स्वागत करते हैं। हम हृदय से यह चाहते हैं कि इस मंत्री को हम पूर्व के सभी मेहनतकशों में ध्यात देखें।" (पूर्व में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन, पृष्ठ २४८)।

इसमें संदेह नहीं कि लेनिन ने इस संदेश में जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वागत किया है उसका संदर्भ स्वराज और खिलाफत पर आधारित भारतीय जनता की एकता से था। और लेनिन इस एकता को ऐसा नहीं समझते थे जो धार्मिक अंधविश्वास और रहस्यवाद को सुदृढ़ करेगी बल्कि ऐसा समझते थे जो पूर्व के सारे मेहनतकशों की एकता के लिए लाभकारी होगी।

लेनिन ने दोनों के बीच सकारात्मक रिश्ते को देखा और उसका स्वागत किया, न कि दोनों को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा किया।

गांधी जी ने उसी उत्साह और दृढ़ता के साथ अस्पृश्यता के उन्मूलन के लिए संघर्ष चलाया। उन्होंने इस प्रयोजन के लिए एक पृथक संगठन, हरिजन सेवक संघ, कायम किया।

हमने अस्पृश्यता के उन्मूलन के लिए एक लीग क्यों नहीं कायम की? ग्रामों-चलों में खेत मजदूर यूनियन और किसान सभाओं तथा शहरों में ट्रेड यूनियनों के सहयोग के साथ इस प्रकार की लीग से अछूतों पर लदी हुई सामाजिक अमानता और अन्याय की हजारों समस्याओं को हल करने में अपार सहायता मिली होती। शहरी और ग्रामीण सर्वहारा की हैसियत से अछूत समुदाय की जो स्थिति है उससे ये सारी समस्याएं न तो उस समय सीधे संबद्ध थीं, और न बाज हैं।

जहां १९३० के हमारे कार्यक्रम के मतविदे में अस्पृष्ट रूप में राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के आत्मनिर्णय के अधिकार की चर्चा है, वही गांधी जी ने भारत की भाषा समस्या को ठोस रूप में उठाया।

उन्होंने लगातार तीन दशक तक भारत की प्रादेशिक भाषाओं के पूर्ण विकास के लिए अभियान चलाया; देश के विभिन्न भाषा-भाषी लोगों की स्वच्छिद्र महमति के आधार पर 'राष्ट्रभाषा' के रूप में हिन्दुस्तानी के प्रचार के लिए अभियान चलाया (पुनः, हिन्दी नहीं); क्योंकि उन्होंने हिन्दी और उर्दू पर आधारित हिन्दुस्तानी को हिन्दू-मुस्लिम एकता कायम करने के एक साधन के रूप में देखा; तथा अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के माध्यम के रूप में अंग्रेजी के व्यवहार के लिए अभियान चलाया। उन्होंने भारतीय तहसीलों को क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से देश-भक्तिपूर्ण शिक्षा देने के उद्देश्य से विद्यापीठ कायम किये। उन्होंने सबसे पहले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भाषावार आधार पर गठित करके भारतीय राज्यों के भाषावार पुनर्गठन का पुर्नानुमान किया और उसके लिए प्रयत्न किया।

भाषा समस्या के इन सारे पहलुओं पर उन्होंने वे नीतियां तैयार की जिन्हें

आज हम जनवादी, तथा भारतीय जनता और एहता के लिए आन्दोलन करने मानते हैं। हमने इस मामले में क्या किया ?

गांधी जी ने आदिवासियों के जीवन १९२० में काम करना शुरू कर दिया था। उन्होंने इस कार्य के लिए आदिवासी सेवा संघ नामक संगठन स्थापित किया। उन्होंने अपने कुछ मनीषिष्ठ अध्यापिकों को आदिवासियों के बीच आजीवन काम करने का आदेश दिया। हमारी प्रांति इस समस्या के प्रति (इसके आर्थिक पक्ष के अलावा जिस पर हमने पहले में ही ध्यान दिया है) अभी विनम्रतापूर्ण रूप से ही ध्यान दे रहे हैं।

ऐसी परिस्थितियों में जहाँ कि प्रविष्ट उद्योग के सबसे उत्पन्न भाग के प्रामाण्य उद्योगों और श्रमकारियों को विनष्ट करने कात रहे थे, गांधी जी ने ग्रामोद्योगों की रक्षा करने और उनके प्रोत्साहन देने पर जो जोर दिया वह निश्चय ही सर्वथा प्रतिक्रियाकारी नहीं था। उसका एक मास उन्नतता के पक्ष भी था, जिसका सकारात्मक मूल्य था।

और इस तरह में संसार की सबसे उत्तमो हुई सामाजिक शक्ति—अर्थात् भारत माता—की अमंग्य ऐसी सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं का उल्लेख कर सकता हूँ जिन्हें गांधी जी ने पूरी ईमानदारी से उठाया। उदाहरणार्थ हमारी स्त्रियों को रमोई छोड़ कर सक्रिय राजनीतिक जीवन में लाने में गांधी जी को—किसी भी हमारे जीवित या मृत भारतीय से ज्यादा—श्रेय है।

यह सब कहने का निश्चय ही यह अर्थ नहीं कि इन समस्याओं से संबंधित गांधी जी के सिद्धांत और समाधान वैज्ञानिक थे, और यह कि हमें महज इतना ही करना था कि उनके पीछे लग जाते और उनके अनुयायी बन जाते। मैं जो बात कह रहा हूँ, यह तो उसका मरतल भर होगा। उनके दार्शनिक-वैचारिक दृष्टिकोण की सीमायें, वर्गतर मानवतावादी की सीमायें, इन समस्याओं के उनके समाधानों की भी सीमायें थीं। और इत्ती कारण, उनके ध्येयनिष्ठ उत्साह और संगठन क्षमता के बावजूद, ये अभी तक हल नहीं हो सकी हैं।

पर मेरा कहना यह है कि हमने इन समस्याओं की उपेक्षा की। मेरा कहना यह है कि वह इनसे रू-व-रू हुए और इनका मुकाबला किया—कुछेक का (जैसे भापा समस्या का) सही तरीके से, अन्य का, उतने सही तरीके से नहीं, किन्तु फिर भी ऐसे तरीके से जो भारतीय जनता की जनवादी, साम्राज्यवाद-विरोधी एकता स्थापित करने में सहायक हुआ। और इस प्रकार की एकता के बिना स्वराज असंभव था।

मेरा कहना यह है कि हमें इन समस्याओं के स्वयं अपने वर्गगत समा-

धान, संक्रमणकालीन समाधान, सूत्रित और निर्धारित करने चाहिए थे, तथा उन्हें उत्साहपूर्वक क्रियान्वित करना चाहिए था, जो कि हमने नहीं किया।

अपने सारे मध्ययुगीन सामाजिक सिद्धांतों के बावजूद, जो समकालीन संदर्भ में वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त थे, गांधी जी अनेक महत्वपूर्ण मामलों में भारत को हमसे बेहतर जानते और समझते थे।

न माक्स ने और न लेनिन ने कभी यह कहा है कि कोई कम्युनिस्ट पार्टी सिर्फ इस कारण अपने देश की परिस्थितियों को गैर-कम्युनिस्टों से ज्यादा अच्छी तरह समझती है कि उसने मार्क्सवाद को स्वीकार कर लिया है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद सामाजिक मथार्थ को समझने और बदलने का सबसे वैज्ञानिक, सबसे क्रान्तिकारी, हथियार है। इसको स्वीकार कर लेने पर हम अपने दायित्वों को पूरा करने के सर्वश्रेष्ठ हथियार से सैस हो जाते हैं। किंतु दायित्वों को पूरा करने में वास्तविक सफलता जीवन की सच्चाइयों में हमारे पारंगत होने तथा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आधार पर उनका सही विप्लेपण करने पर निर्भर करता है। यह विश्वास करना चेतन या अचेतन अहंवाद है कि पुकार-पुकार कर यह कहने से कि हम मार्क्सवादी-लेनिनवादी हैं, ऐसी पारंगतता स्वतः प्राप्त हो जाती है। . .

वस्तुतः ऐसा दृष्टिकोण उस विनम्रता और कठोर आत्मालोचनापूर्ण रख से भटकाव है, जो मार्क्सवाद-लेनिनवाद का महत्वपूर्ण और अपरिहार्य तत्व है। ऐसा कोई मार्क्सवाद नहीं जो जीवन की वास्तविकताओं तथा उनके नाना रूप, सतत परिवर्तनशील अन्तर्संबंधों के गहनतम, सूक्ष्मतम और सर्वाधिक कर्मठता-पूर्ण अध्ययन पर आधारित न हो।

कोई कम्युनिस्ट पार्टी अपने कार्यक्रमों में जो सबसे बड़ी गलतियां कर सकती है उनमें से एक है संपत्तिगत संबंधों में बुनियादी परिवर्तनों के लिए लड़ते समय ऊपरी ढांचे की समस्याओं की उपेक्षा कर जाना। बाद वाली समस्या आधारभूत है, किंतु माक्स और लेनिन ने आधारभूत और संपूर्ण को अभिन्न कभी नहीं माना, न ही उन्होंने कभी यह कहा कि ऊपरी ढांचे की समस्याएँ उत्पादन के बुनियादी संबंधों की यांत्रिक प्रशाखाएँ मात्र हैं। इसे भुला देना मार्क्सवाद की भोड़ी व्याख्या करना है। किसी कम्युनिस्ट पार्टी की क्रान्तिकारी गतिविधि में इसका नतीजा यह होता है कि वह अपने समस्त क्षेत्रों—आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक—में वर्ग संघर्ष के कर्तव्यों को समझने और निष्पन्न करने में असफल हो जाती है। इसका अर्थ है मजदूर वर्ग की नेतृत्वकारी भूमिका को उसकी समस्त समृद्धि और शाखा-प्रशाखाओं के साथ ममक सक्ने में असमर्थता।

दुनिया जानती है कि महात्मा जी दुखी और मोहमग्न इंसान की मोत

मरे। यह आजीवन एक मराम आजादी और प्रगति कार्यकर्ता रहे। किन्तु वा उन्होंने उस आजादी का मुह देना, जिसके लिए उन्होंने आधी मरी में ब्रिटिश संघर्ष किया था और फाट उखाड़े थे, तो उन्होंने कहा कि मेरी ऐसी कोई सफल नहीं जिसके लिए यह उमराव दिन बीतें।

सत्तापीन भारत में परमाणु संभावने के बाद जब मेहनत जी समेत उनके पतिष्ठन सहयोगियों में उनमें उस अवसर पर संदेश मांगा तो उन्होंने कहा कि मेरे पास कोई संदेश नहीं, और उन्होंने कोई संदेश नहीं दिया।

यह सचमुच उनके जीवन का सबसे दुःखद और अन्तिम अवरोध था।

क्यों से यह आया? इसका स्पष्टन क्या था?

यह मुख्यतः दो चीजों में आया, चीजों ही उनकी व्यक्ति के रूप में और उनके मिशन को समझने के लिए अव्यक्त अर्थपूर्ण है।

सबसे पहले, आजादी विभाजित भारत में आयी, यह हिन्दू-मुस्लिम सह-संहार में चहाये गये भ्रातृपात-जन्य रक्त-प्रवाह में आयी, यह हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा मूटपाट लेकर आयी।

उनके जीवन का एक सबसे बड़ा स्वप्न—हिन्दू-मुस्लिम एकता—व्यस्त हो गया, राख में मिल गया और हिन्दू-मुस्लिम एकता के बिना गांधी जी के लिए स्वराज बेमानी था।

पर बात इतनी ही नहीं थी। उन्होंने देखा कि उनके सहयोगी और कनिष्ठ लोग गहियों पर पहुँचते ही अपने और अपने मित्रों के लिए धन-संपदा के अशिष्टतापूर्ण और अक्सर मुजरिमाना संग्रह के लिए अपनी सत्ता का प्रयोग करने लगे।

माक्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित पूंजीवाद के निर्मम नियमों को पतल नहीं जा सकता था। वे हठात जीवन में उतरे। पूंजीवादी स्वाधीनता के बाद पूंजीवादी संचय शुरू हुआ जो घृणास्पद और कुत्सित के सिवा कभी और कुछ ही ही नहीं सका।

किन्तु चूँकि वह, अपनी विचारधारा और नीतियों की वस्तुगत सीमाओं और पेशीदगियों के वावजूद, अपने स्वप्नादर्शों के प्रति अत्यन्त ईमानदार और उत्सुक थे, इसलिए उस आजादी के फलस्वरूप और उस आजादी के दौरान जिसके लिए वह सदा यह समझते रहे कि वह लड़ते रहे हैं, इस तरह के विकास की वह अपेक्षा भी नहीं करते थे, कामना करना तो दूर रहा।

इसने भी उनको हक्का-बक्का कर दिया। कारण कि वह 'अपने' अमानत-दारी के सिद्धान्तों में सचमुच विश्वास करते थे जिसमें समाज का सम्पत्तिधारियों और सम्पत्तिहीनों में विभाजन निश्चय ही निहित था (और उन्होंने इस बात को कभी छिपाया नहीं), किन्तु वह सम्पन्न लोगों से निर्धन लोगों के प्रति एक

साम कर्तव्य के, ईंगाफ के, म्याग के बोध का भी समझा करते थे जिसे वह 'अमानतदारी' कहते थे। आरम्भ में वह ईमानदारी से इस बात में विश्वास करते थे कि उनके अनुयायियों ने उसी धारणाएँ 'अमानतदारी' के न केवल सम्पत्ति बाने पक्ष को, बल्कि उनके कर्तव्य बाने पक्ष को भी, स्वीकार कर लिया है।

पर ऐसा होना नहीं था। वे लोग भाषनाहीन पुरोवादी थे और उन लोगों ने, जैसे ही स्वाधीन भारत में सत्ता के पक्षों पर स्वयं की मुरझात पाया, अमानतदारी के कर्तव्यों को निष्पुरुता के साथ टुट्टा दिया।

गांधी जी को इस बात का श्रेय देना होगा कि इस दुष्टे मोहभंग के दाबदूर आसिरी साथ तक वह अपने विद्वान्त पर डटे रहे।

अंतिम दिनों में तो उन्होंने इस आराय के अधिकाधिक स्पष्ट बयान देने शुरू कर दिये थे कि अगर घनी सोग मेरी अपेक्षाओं के अनुरूप गरीबों के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं करते, तो मैं सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग करने में नहीं हिचकूंगा, और उनके सिताना, जनता में इसका इस्तेमाल करने का आवाहन करने में पीछे नहीं रहूंगा, जैसा मैंने विदेशी शासन के खिलाफ किया था।

उनका इस आराय का एक अंतिम बयान इसी संदर्भ में था कि मैं यह नहीं चाहता कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इस्तेमाल सत्ता के अस्त्र के रूप हो, बल्कि मैं यह चाहता हूँ कि उसे विपटित करके जनता की सेवा करने बाने सगठन में रूपांतरित कर दिया जाय। वह यह नहीं चाहते थे कि 'उनकी' कांग्रेस स्वाधीन सत्तालोनुर राजनीतिज्ञों द्वारा कल्पित हो। वह देना के दखि-नासापण के लिए उसे पुनर्जन्म देना चाहते थे।

मैं उनके एक वक्तव्य को, जिसका मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ, उद्धृत करके अपनी बात समायन करूंगा। यह वक्तव्य उन्होंने अपेक्षों द्वारा भारतीयों के हाथों में सत्ता के हस्तांतरण के ठीक पहले जारी किया था :

"प्रश्न : पत्रियों को गरीबों के प्रति अपने कर्तव्य को महसूस कराने के सामने में सत्याग्रह का क्या स्थान है ?

"गांधी जी का उत्तर : वही जो विदेशी सत्ता के खिलाफ है। सत्याग्रह मार्क्समौम प्रयोग के साधक नियम है।" (हृत्जन, ३१ मार्च १९४६)।

ऐसे थे गांधी जी। वह न केवल एक ऐसे व्यक्ति थे जो किसी युग में एक वार पैदा होता है, वह न केवल अद्भुत साहस और आस्थाओं वाले व्यक्ति थे, बल्कि दवे-कुचले और उत्पीड़ित जनों के साथ तादात्म्य की अपनी उत्कट भावना के कारण वह अपने को कल्पनाशील रूप से ढाल सकते और बदल साने की क्षमता रखने वाले व्यक्ति थे।

यदि वह एक हत्यारे की गोली का निशाना न बन गये होते, तो उन्होंने

क्या सिद्ध होना ? इस प्रश्न का कोई भी उत्तर नहीं दे सकता, किन्तु एक बात
 में निश्चित रूप से जानना है। वेद, अनुवाद और आदिगा में अपने समस्त
 विश्वास के मानक, उन्होंने यंत्रिकी द्वारा मशीनों के द्वारा और सौन्दर्य
 भरे शोषण को सभी मशीनकार न सिद्ध होना, यह यंत्रिकी के सिद्धांत सब
 मशीनों के पक्ष में लड़े होते, उक्त तरह नहीं जैसे हम लड़े होते हैं, बल्कि अपने
 ही तरीके में ।

गांधीवाद : स्वतंत्रता के वाद

मोहित सेन

दो दशक से अधिक समय तक भारत पर वे लोग शासन कर चुके हैं जो या तो सीधे गांधी जी के सिष्य थे, या जो स्वयं को महात्मा गांधी का अनुयायी कहते हैं। जहाँ यह उचित नहीं होगा कि उनके सारे पाप गांधी जी के माथे मढ़ दिये जायें, वहाँ यह अवैज्ञानिक होगा कि उनकी निष्पत्तियों द्वारा गांधी जी के संदेश का मूल्यांकन करने का प्रयाग न किया जायें। गांधी जी के वाद का गांधीवाद स्वयं गांधी जी के बारे में हमें बहुत कुछ बता सकता है। आखिर यह बड़ी कनौटी है जिसे माक्स और लेनिन के अनुयायी सहपं स्वीकार करेंगे।

यह दलील दी जा सकती है कि गांधी जी ने अगस्त १९४७ में स्वाधीनता दिवस के अवसर पर आकाशवाणी पर संदेश देने से इनकार कर दिया था और कहा था कि "भीतर सर्वत्र अंधकार है।" यह कहा जा सकता है कि उन्होंने कहा था कि भारत का विभाजन उनकी लाश पर ही होगा—एक ऐसी भविष्यवाणी जिसके लिए कहा जा सकता है कि वह पूरी होकर रही, हालांकि उनकी मृत्यु विभाजन के बाद हुई। यह भी कहा जा सकता है कि गांधी जी ने नेहरू और पटेल दोनों को ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के निर्णय को स्वीकार न करने बल्कि एक अन्य संधा और भी व्यापक सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने की सलाह दी थी और दम मलाह को इन दोनों नेताओं ने अस्वीकार कर दिया था। अंततः, यह याद दिलाया जा सकता है कि गांधी जी ने कांग्रेस को भंग कर देने और उसे एक प्रकार के लोक नेबर संघ में बदल देने की हिमायत की थी।

यह सब सच है। और यह निदोष ही व्यक्ति के रूप में गांधी जी की महानता का तथा उनके उत्कट आशीर्वाद का प्रमाण है। यह नये सिरे से यह सिद्ध करता है कि जब कोई किमी खास इतिहास-निर्माता की भूमिका का टोस बिस्नेपण करता है तो व्यक्तित्व की समस्या कितनी जटिल होती है और कितने ध्यातव्यों को ध्यान में रखना पड़ता है। यह उन लोगों को भी बेनकाब कर देता है जो अपने शुद्ध स्वार्थपरायण शासन को बचाने के लिए गांधी जी की भाषा का उपयोग करने की कोशिश करते हैं।

किर भी इस बात की प्रतीति नहीं देखी है कि महात्मा गांधी ने
 मिश्राओं में ऐसी क्या चीज की निर्देश काया उनके कुछ सम्बंध अनुसारी
 (और यह भी ऐसे ही दो दशक में क्यात समय तक उनके अनुसारी है)
 भारत की पूंजीवाद के पक्ष पर है।

यह हमारे सामने एक नापुन्य विरोधाभास आता है। यद्युक्त एक
 द्वान्द्वत्मक अन्तर्निरोध सामने आता है। यह बात सिद्ध करने के लिए गांधी जी
 की रचनाओं में अत्यन्त उद्धरण दिये जा सकते हैं (किन्तु प्रायः पूरा या पूरे
 प्रोफेसर निर्मल कुमार घोष में संकलित कर दिया है) कि वह पूंजीवादी व्यवस्था
 के विरुद्ध थे। मगर तो यह है कि यह बहुत ही संतुलित तरीके से सिद्ध किया
 जा सकता है कि यह आधुनिक मन्व्यता के ही विरुद्ध थे। उनके हिन्द स्वराज
 में, जिसे वह अंत तक अपने आदर्श के रूप में मानते रहे, रचना, अस्पृश्यता और
 आधुनिक सभ्यता के सारे उपकरण नैदान की ईजाद थे। वह उन चीजों के
 जंच विरोधी थे जिसे वह औद्योगिकता की पावन चीज कहते थे। उन्होंने
 खास तौर पर तेज औद्योगिकीकरण को जवाहरनाथ नेहरू से अपने मतभेदों का
 मूल विषय बताया था। यह भी जानी-मानी बात है कि संसदीय प्रणाली और
 उसके शंकुवत ढांचे के प्रति उन्हें कोई आकर्षण नहीं था। इस विषय में उनके
 जो विचार थे उन्हें महासागरीय परिकल्पना की संज्ञा दी जा सकती है, जिसमें
 गांधी इस राजनीतिक सत्ता का केन्द्र और न्योत होता, जो एक केन्द्रिक वृत्तों में
 बाहर फैलती जाती। गरीबी से जकड़े भारत में समानता का एक मात्र साधन
 वह कठोर संयम को मानते थे। आधुनिक, पूंजीवादी सभ्यता तेजी से बढ़ते
 उपभोग-स्तर को आदर्श मानती है; इसके विपरीत वह आवश्यकताओं को
 सीमित करना ही आदर्श मानते थे।

गांधीवाद की संपूर्ण विचारधारा को ध्वस्त, किन्तु उदीयमान धनी किसान
 तथा ग्राम-समुदाय के पुनरुज्जीवन की उसकी उत्कंठा का वैचारिक प्रतिवर्त
 माना जा सकता है। यहां "हिन्दू के उस विलक्षण निर्वेद" को सतह पर उभारकर
 आते देखा जा सकता है जिसके बारे में मार्क्स ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी तरीके से
 लिखा था। प्रार्थना-सभायें, आत्मनिर्भर आश्रम, नयी तालीम जिसके दृष्टिकोण
 का केन्द्रविन्दु दस्तकारी थी, यहां तक कि अहिंसात्मक असहयोग का सन्देश
 भी किसान की व्यथा और आकांक्षा को—हृदयहीन संसार के हृदय को, भाव-
 हीन स्थिति की मूल भावनाओं को, किसानों की अफीम को—व्यक्त करते थे।

गांधी जी ने किसानों की भौतिक स्थिति को यथासंभव शुद्धतम वैचारिक
 रूप में तो अभिव्यक्त किया ही, साथ-साथ इसके अलावा कुछ और भी किया।
 उन्होंने किसानों के स्वतंत्र संघर्ष का जवर्दस्त विरोध किया और उसका विकल्प
 भी लाये। जन-संघर्ष के सवाल के प्रति उनका पूरा दृष्टिकोण—और बहुत सी

राजों के अनाया—उन्हें बिचलराजी के रूप में पेश करता है, पचासि परम्परागत हंग के बिचलराजी के रूप में नहीं। उनके उरबास, जन संघर्ष के समय उनके द्वारा सांबन्धित तौर पर सतानाही अधिभार ग्रहण कर लिया जाता, उनका पलने और एक जाने का नेतृत्व का तरीका, सामंतवाद-बिरोधी, जमींदार-बिरोधी साइनों पर किसानों के संघर्षों और संघर्ष का उनके द्वारा सारा हड़ बिरोध, संघर्ष के लिए बयोर प्रशिक्षण की आवश्यकता पर उनका आग्रह (जो मजदूरवर्ग संघर्ष की दिशा में ले जाता है)—ये सारी चीजें इसी दिशा में दखिन करती हैं।

गांधी जी, गांधी जी भारत में पूंजीवाद के प्रवेश की दूसरी अनिवार्य देन—मजदूर वर्ग—की स्वतंत्र भूमिका, उनकी बिचारधारा तथा राष्ट्रीय आंदोलन में उनके नेतृत्व की संभावना का अनुकरण बिरोध करते रहे। उनकी हड़तालें आस के 'बड़' का पुंज-रूप थीं, किन्तु इनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर था—मजदूर वर्ग को दुकानदारों का अनुकरण करना होता था और आम हड़ताल कमी-कमी बरिहायें बरों न हो जाती हो, पर उने सदा अबांछनीय माना जाता रहा। अवर गांधी जी पूंजीवादी औद्योगिकरण की पालन दोड़ के बिरोध थे, तो वह इसके वास्तविक निषेध—मजदूर वर्गीय समाजवाद—के भी उतने ही बिरोध थे। भारत में अपनी गतिविधि के बिचल आरंभ के दिनों से लेकर १९४६ में रॉयल इंडियन नेवी के बिरोध के दौरान "साल बिनास" और "बैरीकेडों की एकता" के सिक्का आसिरी भय-नातर मुहार तक, वह बोल्शेविज्म की बुरा-भला कहते कमी नहीं बके। उन्होंने लेनिन के ब्यक्तिब की सराहना की, किन्तु लेनिनवाद की कमी नहीं, जिते वह जाने पूर्वपहों के मारे कमी समझ भी नहीं पाये।

गांधीवाद ने एक असंभव स्वप्न को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए, किसानों द्वारा स्वतंत्र संघर्ष का बिरोध करते हुए तथा मजदूर वर्ग के नेतृत्व की संभावना को निष्फल बनाते हुए भारत को अपरिहार्य रूप में पूंजीपति वर्ग को गौर दिया, उन लोगों को सौं दिया जो, जैसा कि बिड़ना बड़े प्यार से कहते हैं, महात्मा जी की छाया में ही बड़े हुए।

गांधी जी की उपलब्धियों को याद रखना बेसक जरूरी है। इसमें कोई सदेह नहीं कि वह स्वतंत्रता के लिए हमारे जन संघर्ष से उत्पन्न प्रमुख साम्राज्य-वाद-बिरोधी नेता थे। उन्होंने ही किसान समुदाय को सामूहिक रूप में राष्ट्रीय आंदोलन की ओर मोड़ा और कांग्रेस को हर गांव और नगर में फैले हुए साम्राज्यवाद-बिरोधी, संगठित, मोर्चे के रूप में निर्मित किया। उन्होंने ही हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न किया, भारत की बिबिधता की मान्यता पर

आधुनिक युग की प्रगति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने ही विचार-मार्गदर्शक की, दार्शनिक की, भारतीय संस्कृति के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया।

अगर कोई युवा विचारधारा के अंतर्गत जोर-शोरों की आवश्यकता परीक्षा करता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी इन उन्नतियों में संदेह करता है। अतिसंवेदन, जैसा कि अर्थ में ही कहा गया था, उन युवा या अल्पवयस्क प्रयोगों के लिए जोर नहीं देती जो जी के प्रयोगशाला में भारत में आज की स्थिति में प्रस्तावित जहाँ अत्यंत-व्यक्तिगत सोच-विचार की शक्ति और प्रभाव, तथा निमित्त-व्यक्तिगत हीना हुआ प्रभाव, मोहक है।

महात्मा जी की मृत्यु के बाद हीन भारतीयता कायम क्यों है? पूर्णतया के सर्वोत्तम प्रतिनिधि में अनाह्वयता के कारण। दूसरी भाग निरीक्षण के सर्वोच्च आन्दोलन के रूप में मानने जाया है। तीसरी भाग राजा जी के विनिष्ट स्वतंत्र दर्शन के साथ स्थापित होना है।

जवाहरलाल नेहरू में, निम्नोद्देश, ऐसे दृष्टिकोण के तहत मोहक थे कि गांधी जी से बहुत कम लेना-देना था। यह अपने निर्माणशीलता में मार्क्सवाद और फेबियनवाद, दोनों में, प्रभावित हुए थे। उन्हें वैज्ञानिक तकनीकी क्रांति की क्षमता का आभास देश में और किमी में बहुत पहले हो गया था, हालांकि यह आभास तकनीक-तांत्रिक दृष्टिकोण में ही था। अंतर्राष्ट्रीय स्थिति की वास्तविकताओं पर उनकी ऐसी पकड़ थी कि उगी के कारण उन्होंने गुटनिरपेक्षता की धारा की अगुवाई की और सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के साथ मित्रता को अपनी इस नीति का मुख्य मुद्दा बनाया और साथ ही साम्राज्यवादियों के साथ संबंधों को बरकरार रखा तथा सुदृढ़ किया। निरीक्षण भारी उद्योग पर जोर, सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना, संसदीय जनतंत्र व वेस्टमिस्टर नमूने पर सूत्रपात—ये सभी अत्यंत विनिष्ट अवदान हैं। इस सब से बहुत कुछ महात्मा जी की बौद्धिक पकड़ के बिलकुल परे रहा होगा। कि इन राजनीतिक नीतियों को अनुप्राणित करने वाली एक भावना या एक दृष्टि थी जो उस सबका प्रतीक थी जो स्वातंत्र्य संग्राम के दिनों में कांग्रेस में सर्वोत्तम था। और इस सर्वोत्तम में निर्णायक अवदान निश्चय ही गांधी जी का था। यह सामाज्यवाद-विरोध का, स्वदेशी, आत्मनिर्भरता तथा एक व्यापक अंतर्राष्ट्रीयतावाद का आदर्श। इस आदर्श की पूर्ति की खोज ही नेहरू के दर्शन की नीति के प्रगतिशील पहलुओं का आधार थी।

एक दूसरा, किन्तु अधिक ठोस, गांधीवादी अवदान था धर्म-निरपेक्ष जनतंत्र की अवधारणा। यह एक ऐसा आदर्श था, जिससे नेहरू जी कभी च्युत न हुए और यहां वे सीधे महात्मा गांधी के पद-चिह्नों का अनुसरण करते रहे इस समस्या के प्रति नेहरू जी का दृष्टिकोण आधुनिक बौद्धवाद और मानवतावाद

का दृष्टिकोण था जो गांधी जी की अपेक्षा रवींद्रनाथ टाकुर के अधिक समीप था। फिर भी आदर्श वही था। यह कहा जा सकता है कि गांधी जी धार्मिक प्रतीकों—प्रार्थना सभाओं और रामधुन—को अपना कर और उसे कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन का एक अंग बना कर स्वातंत्र्य संग्राम की मुख्य धारा से मुस्लिम मध्य वर्ग के अलग पड़ने की प्रक्रिया में सहायक हुए। इस मध्य वर्ग ने एक खास ऐतिहासिक संयोग के कारण, जिसका यहां विवेचन नहीं किया जा सकता है, मुस्लिम किसान जनता और शहरी गरीबों पर जब-दस्त प्रभाव कायम कर लिया। किन्तु साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक बुद्धिवादी और मानवतावादी दृष्टिकोण से कहीं बढ कर गांधीवादी रवैये के मुहावरे और शैली ने धर्म-निरपेक्षता और साम्प्रदायिक एकता का संदेश विशाल हिंदू जनता तक पहुंचाया।

यह संदेश पूरी सफलता नहीं प्राप्त कर सका, जैसा कि विभाजन के काल की दुखद घटनाओं से साबित हुआ। फिर भी यह संदेश बहुत बड़ी संख्या में लोगों तक पहुंच गया और एक ऐसी विरासत और परंपरा छोड़ गया जिसके आधार पर आगे बढ़ा जा सकता है। देश के बड़े-बड़े इलाकों में बहुत बड़ी संख्या में कार्यकर्ताओं को हिन्दू-मुस्लिम एकता की दीक्षा दी गयी और इन कार्यकर्ताओं के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता एक स्वयं-सिद्ध तथ्य बन गयी क्योंकि यह ऐसी प्रतीत होती थी मानो भारत के इतिहास और स्वयं हिन्दुत्व के गहनतम स्रोतों से पूटी हो। कुल मिला कर सारी जनता ने तो धर्म-निरपेक्षता के विचार को नहीं अपनाया, किन्तु बहुत बड़े पैमाने पर लोग इस तरफ आये जरूर। गांधी जी जिस तरह रहते और उपदेश देते थे उनके कारण हिंदू सम्प्रदायवादियों के लिए यह प्रचारित करना निहायत मुश्किल हो गया कि मुस्लिम-विरोधी विचार हिन्दूवादी दृष्टिकोण और परंपरा के आधारभूत तत्व हैं।

मात्र वैचारिक उपदेश पर्याप्त नहीं सिद्ध हो सके, चाहे वे गांधी जी द्वारा प्रतिपादित हों या नेहरू जी द्वारा। जब तक जनता सांप्रदायिकता को जन्म देने वाली भौतिक परिस्थितियों से मुक्त न की जाय तब तक उसका फिर-फिर उभर कर आना लाजिमी है। यह बात स्वातंत्र्य संग्राम के दिनों से कहीं व्यापक पैमाने पर स्वाधीन भारत में घटित हुई है। फिर भी पिछले कई दशकों से धर्म-निरपेक्षता की एक शक्तिशाली धारा मौजूद रही है जिसे गांधी जी ने भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप विलक्षण तरीके से ढाल कर मुक्त किया था और नेहरू जी ने आगे बढ़ाया था। यह ऐसी धारा है जिसके लिए हमें उनका आभार स्वीकार करना चाहिए और जिसे और आगे बढ़ाना चाहिए।

फिर भी, यह भी याद रखना जरूरी है कि ये प्रगतिशील पक्ष संपूर्ण नेहरू

का प्रतिनिधित्व नहीं करती, हीन मध्य ही जंग के उनके मुक्त के मंगुर्न व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती । वेदक ही की आ-मदन ईमानदारी पर संतु कते की जगह नहीं । यह भारत की एक आधुनिक समाजवादी समाज में प्रतिनिधित्व करना चाहते थे । किंतु यह भी, जैसा कि यह कहा करती थे, अपनी ही तरफ से — कम्युनिस्टों के पुराने यह धुके कट्टर मतवादी से बच कर । पर नहीं का बन रहा ? एक स्वाधीन अर्थ-जग का भी विकास नहीं हो सकत, बल्कि पूंजीवाद आगे बढ़ा जिसके शिखर पर देशवादाय इजायेदायिता बनती । क्यों ? उनके 'अपने तरीके', गांधीवादी तरीके, के कारण ही ।

यह तरीका क्या था ? यह था अमानतदारी का, मर्म मजदूर का, मजदूर वर्ग और उसके मित्रों की शक्तियों को क्षीण और विनष्ट करने का तरीका । उनकी शब्दावली नरनों में भरी थी, उनका तरीका प्रायः काफी अंशों में सामूहिक राजनीतिक अभियान बनाने का था, पर यह भी सदैव नहीं । बहू-हाल, उन्होंने अपने उद्देश्य का निर्ममता से निराह किया और यह उद्देश्य यह था कि मेहनतकश जनता की किसी स्थान परहन और कार्यवाही को सहन नहीं किया जाय तथा, सर्वोपरि, कम्युनिस्ट य मजदूर वर्ग के नेतृत्व की किसी वैतनिक शक्ति को बढ़ने न दिया जाय । कम्युनिस्ट नेतृत्व में कायम कैरल के मंत्रि-मंडल का १९५९ में बर्सास्त किया जाना इसका सबसे स्पष्ट दृष्टान्त है । उस समय ई. एम. एस. नंबूद्रीपादन ने संक्षेप में यह कहा था कि कम्युनिस्टों का उद्देश्य उसी सबको क्रियान्वित करना है जिसका फांशेरा उपदेश देती रही है—किन्तु बेशक, अपने ही तरीके से, माक्स के शब्दों में, जन-साधारण के तरीके से । और यही वह कार्य था जिसे नेहरू ने गांधीवादी परंपरा पर चलते हुए विफल कर दिया । अगर समाजवाद को आना है तो इसी रूप से आयेगा कि मजदूर वर्ग दबू बना रहे और मेहनतकश जनता वफादार चाकरों की तरह आचरण करती रहे । बेशक, समाजवाद नहीं हासिल किया जा सका और न मजदूर और मेहनतकश इतना अहसान ही कर सके कि वे दवे पड़े रहें ।

अमानतदारी केवल आर्थिक अवधारणा ही नहीं थी—जहां पूंजीपति या जमींदार संरक्षक की तरह पेश आये तथा मजदूर और किसान मेहनत करें । यह एक पूरा दर्शन, ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की कार्य-पद्धति से संबंधित विचारों की एक पूरी प्रणाली, था । उसमें मान लिया गया था कि जनता मात्र उसे नियंत्रित रखा जाय, उस पर अंकुश रखा जाय और ऊपर के किसी मसीहा से दान के रूप में उसे प्रदान किया जाय । नेतृत्व नहीं, हिराबल की प्रतिष्ठा की जाय और जहां कहीं इसके द । नेहरू जी ने माक्सवाद

के करने परिषद के आरंभ के दिनों में अमानतदारी की व्यवस्था के सिवाय
 निगा वा और औरदार तरीके में बोलते हुए उमकी मुवायिनत की थी। उन्होंने
 इनका समीप उठाते हुए यह भी कहा था कि बैज्ञानिक विरोध की बात तो दूर
 रही, यह सामान्य बौध और ऐतिहासिक अनुभव के भी विरुद्ध है। किन्तु यह
 अमानतदारी का दिव्य रूप तब मौलिक रही, उसे उनके दार्शनिक मूल तक अभी
 नहीं ले जाना गया। और १९३६ की विपरीत वादों के पहले गांधी जी और
 सुदार बौध के बीच मतभेद के समय में नेहरू जी ने गांधीवादी दृष्टिकोण के
 समुच्च अन्वी वर्णन निश्चि वा विमर्शन कर दिया और इन आत्मसमर्पण को
 यह उमकी सर्व-विश्व परिष्कित तब ले गये जहाँ उन्होंने अमानतदारी के दर्शन
 की भी स्वीकार कर दिया। पर तब इनके पर ही नहीं मान्य हुई। गांधी जी
 की आत्मसमर्पण-विरोधी मोर्चे की अन्वी व्यवस्था थी। जहाँ तक यह उन
 कमी की गृहणा करवाकर रखने के लिए प्रयत्नशील होती थी जिन्हें विद्वित
 अतिव्यवहारियों को निश्चल भगाने के लिए संघर्ष में संयुक्त किया जा सकता
 था, वहाँ तक उमका एक प्रयत्नशील पहलू था। किन्तु इन मोर्चे के भीतर के
 अविरोधी में बनना नहीं था तबता था क्योंकि वे उमकी रचना में शामिल
 विधि कमी के दिनों के समुच्च विरोध से उद्भूत थे। और, जब कभी ऐसे
 विरोध उठ खड़े हुए, तब तब वेहनतबता सबको से ही बुझानी देने और संयम
 बनाने को कहा गया। अगर कभी-कभी ऐसे समयों ही तबके जिनमें उन्हें
 हुए विचारों मिलीं, तो वे उनके इस संघर्ष और प्रतिरोध के परिणाम थे।

इन विचारों की भी नेहरू जी ने आगे बढ़ाया। इनकी भी मुम्भावता
 निरूप्य वादों के पहले तब में हुई और सुभाष बौध ने सामर्थ्य विचारों की
 श्रमापन करने, किन्तु व्यवहार में सामर्थ्य की नीमत पर दक्षिण के साथ समझौता
 कर देने, की उमकी प्रवृत्ति की टीक ही बटु आलोचना की। यह इन आलोचना
 में अनेके नहीं थे। रही अहमद जिद्वई ने कुछ वर्षों बाद टीक पही बात
 कही। जब स्थायीनता मिल गयी तो विभाजन के साथ हुए महाविनाश के बाद
 यह प्रवृत्ति उभर कर सामने आ गयी। सविधान सभा में बहुतां के दौरान
 नेहरू जी मन्त्रीकरण का तथा संश्लि-अपहृताओं के संश्लि-अपहृण संबंधी
 गारे बर्दाओं का विरोध करते रहे, हालांकि स्वयं उमकी रचनाओं से इन
 बर्दाओं के समर्थन में उद्घरण वेत किये जाते रहे। उन्होंने समग्र पंद्रह वर्ष
 कायेंग का अविभाज्य, नैतृक, विद्व, और, न्याय, और, न. केन्द्र, कायेंग, के भीतर,
 एक सामान्य के विचारों को प्रोत्साहन नहीं दिया बल्कि नाजुक पड़ियों में
 जब किये के बर्दाओं की अकलत पड़ी, सामान्य के लोगों को ही बंधियों के हवाले
 कर देने रहे।

उनमें इनकी ही उम्मीद की जा सकती थी। यदि गांधीवाद विनष्ट किन्तु

वर्तमान भारतीय विचार का वैचारिक धारणा था, जो नेहरू जी को मानते-
 भय काय में उनकी अविच्छिन्नता का प्रतिनिधित्व इसलिए कर सके (निती
 में राजा जी की नहीं थी-क नेहरू जी को जो अपना उत्तराधिकारी बना, वह
 वैचारिक और पर ही नहीं था) वैचारिक धारणा अविच्छिन्नता का प्रतिनिधित्व
 प्रति वर्ग के वर्गों तक का वैचारिक धारणा था। भारत की मानक
 में अधिक मात्रा में अविच्छिन्नता का प्रतिनिधित्व करने में अन्य वर्गों की
 वर्गों द्वारा प्रतिभाषी की या कि अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व कर सके, किन्तु उत्त
 और न राष्ट्रीय निम्न-पूज्यपति वर्ग का वर्गीय तत्त्व था अर्थात् वर्गों की स्थिति
 भूमिका अत्र कर सकता था। वे दोनों नेत्र (या नहीं स्थिति में नये हा में
 पुराने नेता की ही अविच्छिन्नता) राष्ट्रीय तरीके में उस स्थिति के अनुसार
 थे जिसमें भारतीय औद्योगिक राष्ट्रीय पूज्यपति वर्ग के हितों तथा वर्गों
 कितान और ऊपरी राष्ट्रीय निम्न-पूज्यपति वर्ग के हितों के बीच टकराव में
 अधिक अनुरूपता थी तथा राष्ट्रवाद के साथ वर्गों और समझौता दोनों के
 हित में यह जरूरी था कि भारतीय पूज्यपति वर्ग के हितों के लिए ही
 जनता को लामबंद किया जाय। प्रतिनिधित्व होने वाले वर्गों तथा परिवर्तित
 स्थिति से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक रचना की भिन्नताओं के कारण जो मतभेद
 सामने आते थे, उनके बावजूद गांधी-नेहरू युग और नेहरू में एक बुनियादी
 अविच्छिन्नता है। दोनों ही एक वर्ग वर्ग के दृष्टिकोण को प्रतिनिधित्व करते
 थे, किन्तु अंतिम विश्लेषण में एक अन्य वर्ग के हितों की सेवा करते थे। गांधी-
 नेहरू नेहरू से भारतीय औद्योगिक राष्ट्रीय पूज्यपति वर्ग के हितों और वर्गों
 लाभ नहीं उठा सका।

ऐसा अक्सर नहीं होता पर ऐसा होता अवश्य है कि निम्न पूज्यपति वर्गों
 के वैचारिक प्रतिनिधि अपने वर्ग से अधिक पूज्यपति वर्गों की हित-सिद्धि करते
 हैं। यह वर्ग शक्तियों के एक खास संतुलन तथा परिस्थिति की अपेक्षाओं
 पर निर्भर है। कमोवेश समय तक इस वर्गों की सापेक्ष स्वाधीनता उस
 पूज्यपति वर्ग के प्रत्यक्ष वर्ग-शासन के लिए स्थान दे देती है जिसने बीच के
 अंतराल में शक्ति संचित कर ली होती है। यह तभी संभव है जब कि वर्ग हितों
 की (टकराव के साथ-साथ) अनुरूपता भी हो और एक शक्तिशाली वर्ग वर्गों
 से मुकाबला चल रहा हो।

गांधी जी के बाद गांधीवाद की अविच्छिन्नता की यह पहली घाटा सबसे
 शक्तिशाली थी, किन्तु सबसे अधिक प्रतिनिधि या 'शुद्धतर' घाटा है विनोबा
 भावे का सर्वोदय आन्दोलन। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि विनोबा

जी की स्याति तभी बढ़ी जब उन्होंने भूमि और जनवाद के लिए तेलंगाना के किसानों के कम्युनिस्ट नेतृत्व में चलने वाले सशस्त्र संघर्ष की पुनोत्थि स्वीकार की। भूदान आन्दोलन का जन्म पोचमपल्ली में उन किसानों के संघर्ष के सचेत विकल्प के रूप में हुआ जो कांग्रेस सरकार के नकली भूमि सुधार से लाभान्वित नहीं हो सके थे।

कई दृष्टियों से सर्वोदय आन्दोलन पूंजीपति वर्ग से मुक्त हो जाने और साथ ही मजदूर वर्ग का प्रतिरोध करने की गांधीवादियों की कोशिशों का प्रतिनिधित्व करता था। यह ऐसी परिस्थितियों में, जहां राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का राज्य साम्राज्यवाद से समझौता करके तथा जमींदारों से मंत्री करके पूंजीवाद का विकास कर रहा था, किसान वर्ग द्वारा एक स्वतंत्र भूमिका अदा करने की कोशिश का प्रतिनिधित्व करता था।

विनोबा जी ने भी महात्मा गांधी के इस विचार को क्रियान्वित करने के प्रयास का प्रतिनिधित्व किया कि कांग्रेस को विघटित कर देना चाहिए और उसका स्थान लोक सेवक संघ द्वारा ले लिया जाना चाहिए। उन्होंने राष्ट्र की समस्याओं को, खास तौर पर भूमि समस्या को, हल करने के लिए अपने अनुयायियों से राजनीति के स्थान पर लोकनीति का दृष्टिकोण अपनाने का, राज-शक्ति के स्थान पर लोकशक्ति का उद्बोधन करने का, अनुरोध किया। उनका दृष्टिकोण यह था कि उन कम्युनिस्टों की हिंसा का भी परित्याग किया जाना चाहिए जो क्रान्तिकारी तरीके से भूमि को छीन लेने की हिमायत करते हैं तथा वैधानिक कानूनों द्वारा की जाने वाली राज्य की कार्रवाइयों की हिंसा या बल-प्रयोग का भी परित्याग किया जाना चाहिए। इनके बदले जो तरीका अपनाया जाना था, वह था सम्पत्तिधारियों का हृदय-परिवर्तन करने का।

विनोबा जी ने आरम्भ में यह नारा दिया कि "हर व्यक्ति अपनी भूमि के छठवें हिस्से का भूमिहीनों के लिए परित्याग करे," किन्तु आगे चल कर इस भूदान की जगह वह ग्रामदान की हिमायत करने लगे। इस योजना में व्यक्ति-गत संगति का उन्मूलन (आरम्भ में भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्मूलन), सामूहिक भूमि की सामूहिक शेती और साथ-साथ पैदावार का समान वितरण तथा सहकारी आधार पर ग्राम्य दस्तकारी का संगठन शामिल था। इसका अर्थ है उस पुराने ग्राम्य समुदाय की ओर वापसी जो एशियाई उत्पादन पद्धति का आधार था। और यह काफी महत्वपूर्ण बात है, इसमें औद्योगिक क्षेत्र के लिए तैयार की गयी कोई योजना शामिल नहीं है, हालांकि कुछ सर्वोदयी कभी-कभी सम्पत्ति दान की भी बात करते हैं।

विनोबा जी के दृष्टिकोण में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन उन समय आया जब उन्होंने कम्युनिस्टों के साथ वार्तालाप की बहालत की और उन सभी लोगों के

भीषी का आन्दोलन विना जो सर्वोदयवादी राष्ट्रीय दलों के क्षेत्र में समुदाय प्रतिक्रिया को आनामकता के साथ ही सम्भव था। वह जोर पड़के समुदायी प्रतिक्रिया का समुदायी दलों के राजनीतिक माँगों का एक प्रयोग भी समुदायी प्रतिक्रिया में सम्मिलित हुए और उनके संघर्ष के क्षेत्र में समुदायी प्रतिक्रिया को एक क्षेत्र कायम किया। जिसके समुदायी प्रतिक्रिया में समाज की सभी को। बाद में उन्होंने के रूप में अपने समुदायी प्रतिक्रिया के रूप में समाज की भीषी को। उनके सभी कार्य समाजियों की समुदायी प्रतिक्रिया में प्रयोग की। दो-एक विचारदायक आने तक समाजियों, उदाहरणार्थ, भंड के रूप में समाज के समुदायी, पर उनके समुदायी प्रतिक्रिया का एक उत्तर को प्रगतिशील था।

अभी हाल के दिनों में, सर्वोदय की आवाजों को अपने प्रमुख प्रतिपक्ष प्रवक्ता नारायण ने न केवल राजनीतिक बलवत्त दिखे हैं बल्कि ऐसे राजनीतिक बलवत्त दिखे हैं जो समाजियों और जनता की समुदायी प्रतिक्रिया के पक्ष में हैं। यह उन दिनों में विमर्शित भिन्न स्थिति है जब सर्वोदय में संघर्ष होने का अर्थ होता था समुदायी का विहायी विरोध करना और जब बुद्धिमान 'कोले फॉर फल्लोअप प्रीडम' का उद्धारन किया जाता था। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि किसानों की संघर्षात्मिक और सामुदायी माँगों से कुछ निकलने की संभावना से भी इतना निराश हो चुका है कि मैं स्वयं तो भूमि प्राप्ति करने की 'नयसलवाड़ी' या हिमालयक क्रांतिकारी पद्धति को नहीं मान सकता, पर उसका विरोध भी नहीं कर सकता हूँ।

इसके साथ स्वातंत्र्योत्तर भारत की गैर-सरकारी गांधीवादी धारा के संबंधित एक महत्वपूर्ण बात हमारे सामने आती है। गांधी जी ने 'हृदय परिवर्तन' के महत्व पर जोर अवश्य दिया था, किन्तु वह यह नहीं मानते कि इसे मात्र उपदेश और अभ्यर्षना द्वारा हासिल किया जा सकता है। बल्कि इसके साथ अनशन, असहयोग, हड़ताल तथा सविनय अवज्ञा के विविध रूपों का भी इस्तेमाल करते थे। वह यह मानते थे कि विरोधी को यह विश्वास दिला के लिए कि उसके लिए अपना हृदय परिवर्तित करना और प्रणत होना लायक है, जनता को सक्रिय किया जाना चाहिए। सर्वोदय आन्दोलन की प्राप्त उसका वह स्वप्नादर्श ही नहीं जिसके पीछे वह भागता है। निश्चय ही उन लक्ष्य स्वप्नादर्शमूलक है, खास तौर पर इसलिए कि वह औद्योगीकरण प्रक्रिया के स्वामित्व के ढाँचे तथा ग्रामीण इलाकों के विपक्ष के साथ उसके अंतर्गत की संपूर्ण समस्या को नजरअंदाज कर जाता है। उनकी वास्तविक प्राप्तदी है कि इन लोगों ने हर प्रकार की सरकारी कार्रवाई का तो परित्याग कर

देना है, साथ ही किसी भी प्रकार की जन-कार्रवाई को भी तिलांजलि दे ती है।

जयप्रकाश नारायण ने संघर्ष के विविध प्रकार के गांधीवादी अहिंसात्मक रूपों को आजमा लेने के बाद अगर तपाकथित नक्सलवाड़ी पंथ के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की होती, तो वह समझ में आने वाली बात होती। दुर्भाग्य-वश विनोबा जी और जयप्रकाश नारायण दोनों ने, पद-यात्रा और प्रार्थना सभाओं द्वारा प्रचार और आन्दोलन के अलावा, अन्य हर प्रकार की सक्रियता का परित्याग कर दिया है। यह मात्र संयोग की बात नहीं है। विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति के खिलाफ अहिंसात्मक रूपों में भी, जन-संघर्ष का प्रयोग करना एक चीज है। हमजोली गांधीवादियों द्वारा संचालित पूंजीवादी राज्य के खिलाफ इसका इस्तेमाल करना बिलकुल दूसरी बात है। कोई यह कह सकता है कि यह गांधीवाद का खंडित और विकृत रूप है। सर्वोदयवादी यह स्वीकार करते हैं कि स्वाधीन भारत में बुराइयों और अन्यायों की भरमार है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जनता और अधिक अशांत, तथा आक्रामक तक, होती जा रही है। वे किसी प्रकार का संघर्ष, व्यक्तिगत संघर्ष ही सही, किसी प्रकार का सत्याग्रह, सीमित पैमाने पर और सीमित उद्देश्य के लिए ही सही, क्यों नहीं शुरू कर सकते? सिर्फ एक उदाहरण लीजिए। हाल के महीनों में भारत के विभिन्न भागों में हरिजनों पर किये गये अत्याचारों से सारे देश को सदमा पहुंचा है। सर्वोदयवादी इस मसले पर स्वतः या दूसरों के साथ मिल कर ऐसा राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह क्यों नहीं शुरू कर सके जिसकी परिणति राष्ट्रव्यापी हड़ताल में—अगर 'बंद' शब्द उन्हें प्रिय नहीं है—होती? जाहिर है, हर प्रकार के जन-संघर्ष का परित्याग कर देना और साथ ही हलाच होकर तपाकथित नक्सलवाड़ों के रास्ते के लिए एक प्रकार की निष्क्रिय सहानुभूति दिखाना बद्धमूल सामाजिक समस्याओं को हल करने का बहुत गांधीवादी तरीका प्रतीत नहीं होता।

साथ ही यह भी कह देना जरूरी है कि नैराश्य और असफलता की भावना को तपाकथित संवैधानिक या सरकारी किस्म की शांतिपूर्ण पतिविधियों के खिलाफ ही नहीं निदिष्ट किया जाना चाहिए। स्वयं सर्वोदय आन्दोलन के संबंध में भी यह बात कहीं अधिक प्रासंगिक है। कोई भी निष्पक्ष निरीक्षक इसी निष्कर्ष पर पहुंचने को मजबूर होगा कि भूदान और ग्रामदान आन्दोलन निहामत असफल रहे हैं। 'दान' की गयी भूमि ज्यादातर या तो खेती लायक नहीं रही, या भगड़े की जमीन रही है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि भूमि देने वाले अक्सर छोटे किसान होते हैं जो अपनी निहामत छोटी जीत से बाजीविका चला पाने में असमर्थ हैं। अन्य 'दाता' यह महसूस करते हैं कि

जर्मनी के ही नहीं, बल्कि मुसलमानों के भी सहाय मिली। हर जगह में, उन आंदोलनों का प्रथम महत्व भूमिगत बन्दियों जैसी जर्मनी के जेलखानों में सम्पूना प्राप्त हुआ रहा है। निर्वासन प्राप्त कर कर गांधी स्वयं पर सहाय संघर्षों में निर्वासन का समर्थन की। यह भारतीय राजनीति और समाज के गांधीवादी पुनर्निर्माण का आधार बनता है। जहाँ तक इन बंदियों का संबंध है, सर्वोच्च आन्दोलन की आवश्यकता बनाने का होता है और सभी-मुक्तों है।

फिर भी सर्वोच्च आन्दोलन में कुछ ऐसे भारतीयों को आहूत किया जो राष्ट्रवाद के प्रयोग के सामने नहीं झुके। इनके और कुछ ऐसे सतत लोक भी है जो पूर्णतः सत्य में विश्वास हो चुके हैं और जो भारतीय समाज के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण की हार्दिक कामना करते हैं। उन्हें यह मुनासिब दिना जा सकता है कि इस सत्य को पूर्ण के लिए जन-संघर्ष के गांधीवादी तरीके का प्रयोग कर सकते हैं। और आज वे इस दिना में प्रदान करते हैं तो स्वयं को अकेला नहीं पायेंगे।

गांधीवाद के नेतृत्व को बनाये रखने के तीसरे प्रयास के प्रतिनिधि है स्वतंत्र संत राजा जी। उनकी कोशिश यह है कि कम्युनिज्म के लिए गांधी जी को जो स्पष्ट अक्षि थी, राज्य की शक्ति की वृद्धि के प्रति वे जो नापसंदी रखते थे तथा आर्थिक शक्तियों के स्वयम्भूत कार्यक्रमों में हस्तक्षेप के प्रति वे जो अविश्वास रखते थे, उन सभी का इस्तेमाल किया जाय। दूसरे शब्दों में, उनकी कोशिश यह है कि महात्मा गांधी की वनावट में जो कुछ पूर्वग्रह-रहित, धोखा और अज्ञानपूर्ण है, उसी का इस्तेमाल किया जाय। और लाक्षणिक हृदयहीनता के साथ उन सभी का इस्तेमाल भारतीय इजारेदार पूंजी की शक्तियों, सबसे शक्तिशाली सामंती जमींदारों और नव-उपनिवेशवादियों के हक में किया जाय।

सार्वजनिक क्षेत्र की बढ़ती हुई नौकरशाही, परमिटों और लाइसेंसों के संबंध में फैलते हुए भ्रष्टाचार, सीमित नियोजन की जनता का हित कर पाने में असफलता तथा कांग्रेस मार्का मिथ्या समाजवाद की बदनामी के प्रति जनता के बड़े हिस्सों में व्याप्त विरक्ति का इस्तेमाल करके राजा जी ने गांधी जी को स्वतंत्र पार्टी के भंडे के नीचे खड़ा कर लेने की आशा की थी। उन्होंने यह आशा की थी कि यह इजारेदार पूंजीपतियों और अवाम के बीच उसी तरह सेतु का काम करेगी जैसे गांधीवाद ने समष्टि रूप से भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथ में राज्य सत्ता का हस्तांतरण संपन्न कराने के लिए अवाम को संघर्ष में उतार दिया था।

यहाँ पूर्ण और जबरदस्त असफलता हाथ लगी। महात्मा गांधी और जो कुछ रहे हों या न रहे हों, पर दरिद्रनारायण से, हर पद-दलित की आंख के

आंशुओं को पोषने से उनका अटूट संबंध था। महा रानियों, घन्नासेठों के पक्के अनुचरों और सेवानिवृत्त आर्. सी. एम. नौकरसाहों और छिटपुट फौजी जनरलों की मंडली से उनका मेल ही नहीं बैठता था। भारतीय स्वातंत्र्य संघर्ष के उस महानतम साम्राज्यवाद-विरोधी संगठनकर्ता से डॉलर की अनुदासता का औघृत्य सिद्ध करने को तो नहीं ही राजी किया जा सकता था। आंध्र के कुछ सीमित क्षेत्रों के अलावा (जहां कि श्री रंगा ने अपने पहले के काम से तथा अभी सरकारार कम्माओं की जातीय वफादारी से लाभ उठाया) और कहीं स्वतंत्र पार्टी जो जनता के बीच कहीं जड़ नहीं जमा सकी, वह इस तथ्य का प्रमाण है। स्मरणीय है कि रजवाड़ों के परंपरागत प्रभाव का स्वयं स्वतंत्र दृष्टिकोण से कुछ लेना-देना नहीं। स्वतंत्र की चुनौती टाय-टाय फित हो चुकी है। वह अब उत्तरोत्तर कांग्रेस के भीतर के दक्षिण पक्ष के हक में दबाव डालने वाली जमात के रूप में काम करती है और किसी ऐसी बड़ी इकाई की अधिकाधिक खोज में है जिसमें वह अपना विलय कर ले। यह भी खासा मुश्किल साबित हो रहा है। राजा जी एक जमाने में महात्मा गांधी के विवेक के प्रहरी कहे जाते थे पर इस भूमिका को छोड़े हुए उन्हें एक लम्बा अरसा हो चुका। जब तक स्वयं किसी के पास विवेक न हो तब तक वह किसी और के विवेक का प्रहरी कैसे रह सकता है, गांधी जी जैसे व्यक्ति के विवेक या उनकी विरासत का प्रहरी रहना तो और भी दूर की बात है। जाहिर है, महात्मा गांधी ने अपने अचूक अंतर्ज्ञान के आधार पर राजा जी को अपने उत्तराधिकारी के रूप में अस्वीकृत कर दिया और उन्होंने जवाहरलाल नेहरू को चुना जिनके प्रति राजा जी के हृदय में विकृत घृणा घर कर गयी। इजारेदार पूंजी महात्मा गांधी को अपनी कठपुतली नहीं बना सकी। तीसरी धारा शुरू होते-होते ही सूख चली।

परिणाम इससे भिन्न हो भी नहीं सकता था। विनष्ट लेकिन उदीयमान धनी किसान की या शहरी निम्न-पूंजीपति वर्ग के ऊपरी तबके की आकांक्षाओं का औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के हितों के साथ मेल बैठ सकता था और उसे इसके हितों का पोषक भी बनाया जा सकता था। इसके परिणामस्वरूप एक खास इजारेदार तबके का आधिभार हुआ जिसने विकास की आगे की सारी उप-सभियों को दृष्टिया लेने की कोशिश की और जब उसने नव-उपनिवेशवादियों के साथ अधिकाधिक साभेदारी करके यह करना चाहा तो उसके लिए हितों के उक्त मेल और पोषण का पा सकना संभव नहीं रह गया। भारतीय इजारे-दारी के विस्तार के हितों तथा संपूर्ण राष्ट्र के हितों का अन्तर्विरोध इस बात में ज्वलंत रूप में व्यक्त होता है कि वह गांधीवादी विरासत को ग्रहण कर सकने में सर्वथा असमर्थ रही है।

सामग्री का क्या हुआ ? यहाँ हमें एक ऐसा विरोधाभास देखने को मिलता है, जिसकी ऐतिहासिक विकास में प्रथमता है। गांधी जी ने महा सम्मेलन पर नियंत्रण और अनुभव रखने की कोशिश की थी। उनमें इसी महा सम्मेलन की सामग्री के मेवालों और कार्रवाई की कार्यविधि ईमानदारी, दुर्भाव के प्रति शक्ति तथा शक्ति सामग्री की महा सम्मेलन का मकसद। वे इनके पुराने कि यह अनुभव कर सके कि सामग्री काय तोर पर जोरनामों और विचारों पर जयदेव अमर शान रहा है। वह इस बात के लिए स्पष्ट है कि उनको निष्ठा और उनके प्रभाव का उदासीन भावने स्पष्ट के लिए कर लें और इन उपयोग के दौरान उन्हें अपना अनुभव भी बना लें। उन्हें मजबूत यही मकसद जवाहरलाल नेहरू के साथ मिली और यह शक्ति एक व्यक्ति को जीत लेने की बात नहीं थी। यह सामग्री की एक शक्तिशाली, भावना मजबूत शक्तिशाली, धारा के संबंध में मकसदता थी। जहाँ वे मकसद नहीं हो सके, जैसे मुनायफर चौस के मामले में, यहाँ उन्होंने कम से कम शक्ति की उनके प्रभाव से मुक्त कर लेने की निर्भरता से स्पष्टता कर दी। जहाँ तक कम्युनिस्टों का संबंध है, गांधी जी उनका सम्मान करते थे पर साथ ही उन्हें दूर-दूर रखने का भी निश्चय कर रखा था। १९४४ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन महा-सचिव पी. सी. जोशी के साथ उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ था, उससे यह पता चलता है कि वह कम्युनिस्टों के खिलाफ निहायत ऊपटंग अफवाहों और मिथ्या आरोपों को भी सही मान लेने को जितने तैयार रहते थे। वगैरे संघर्ष के संगठन तथा तथा मेहनतका जनता के स्वतंत्र वगैरे संगठनों के वे आरम्भ में जितने विरोधी थे, अन्त में भी उतने ही विरोधी बने रहे।

गांधी जी के प्रति वामपंथियों का, रास तोर पर कम्युनिस्टों का दृष्टिकोण निर्दोष नहीं था। वे भारत में साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के मुख्य संगठनकर्ता के रूप में उनकी भूमिका को दीर्घकाल तक समझ नहीं सके। किसानों को साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन में लाकर उन्होंने जो महान सेवा की थी उसे समझने में वे असमर्थ रहे। वे साम्राज्यवाद के साथ उनके समझौतों पर और निहित स्वार्थों के साथ उनके सामंजस्य पर एकतरफा जोर देते रहे और संघर्ष के पक्ष को तथा देश के निर्धनतम जनों के साथ एकात्म्य के पक्ष को नजर-अंदाज करते रहे। उनकी आलोचना दुरुस्त थी किन्तु आलोचना के साथ-साथ, कार्यक्रम, संगठन और संघर्ष की पूरी स्वाधीनता बनाये रखने के साथ-साथ उन्हें सम्पर्क और सहयोग के प्रसंगों की और अधिक आग्रह के साथ खोज करनी चाहिए थी। स्वातंत्र्य संघर्ष में नायक की स्थिति प्राप्त करने से संबंधित गलत धारणाओं के ऐसे नकारात्मक रुख के पीछे, कम से कम कम्युनिस्टों के मामले में, काफी बड़ा हाथ था। आन्दोलन के आगे बढ़ने के साथ राष्ट्रीय

पूँजीपति वर्ग की सम्भावित दिशा का कम्युनिस्टों ने जो संकीर्णतावादी विरले-
 षण किया था और यह मान लिया था कि वह अनिवार्यतः प्रतिशान्ति के पक्ष
 में घुस जायेगा, उसने इनकी गलतियों को और भयंकर बना दिया और
 गांधी जी को राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग का गुलाम प्रचारक मान लेने से यह गलती
 और भी भयंकर बन गयी।

अभी भी भारत में वह कौन सी शक्ति है जो गांधीवाद के सारे सकारात्मक
 तत्वों को आज आगे बढ़ा रही है? वामपक्ष के अलावा और कोई नहीं और
 उसमें भी प्रथम स्थान कम्युनिस्टों को प्राप्त है। अगर हेगेल का एक शब्द
 प्रयोग किया जाय तो यह निषेध-विधेयक को आगे बढ़ाने का एक उदाहरण है।
 क्या इसका यह अर्थ है कि वामपक्षी और कम्युनिस्ट लोग अहिंसा के मतवाद
 में दीक्षित हो गये हैं? कतई नहीं। पूछा तो यह जा सकता है कि एक मतवाद
 के रूप में अहिंसा में गांधी जी और मुट्टी भर अन्य लोगों के सिवा कौन
 विरवास करता था? अन्य कांग्रेसी नेताओं ने बार-बार यह काफी स्पष्ट कर
 दिया था कि वे अहिंसा में कार्यनीतिक सुविधा की दृष्टि से ही विरवास करते
 थे। नहीं तो इस बात की कौसी सफाई दी जा सकती है कि अगर अस्थायी
 राष्ट्रीय सरकार की मांग स्वीकार कर ली जाय तो संपूर्ण कांग्रेस नेतृत्व मित्र
 राष्ट्रों के साथ मिल कर युद्ध में उतरने की जिम्मेदारी लेने को तैयार था?
 आई. एन. ए. के निर्माण से जो अहिंसात्मक संगठन नहीं था, उठाये गये विकल
 प्रचारात्मक लाभ की सफाई कैसे दी जा सकती है? स्वयं गांधी जी ने कई
 अवसरों पर यह घोषित किया था कि अहिंसा में मेरी निष्ठा है पर मैं कांग्रेस
 से इसे स्वीकार करने के लिए आग्रह नहीं करूँगा। इस तरह हिंसा-अहिंसा का
 विवाद आदि से अंत तक ध्यान बंटाने का एक साधन रहा। अपनी मुक्ति के
 संपर्प के सबसे उपयुक्त रूपों का विकास तो स्वयं जनता अपने संपर्प के दौरान
 करती है।

अपने दो दशक के नेतृत्व के दौरान गांधी जी ने भारतीय अवाम के
 आन्दोलन के अनुभव का सामान्यीकरण किया और जन-संपर्प के रूपों के परस्पा-
 पार को समृद्ध किया। भूख हड़ताल, बहिष्कार, सत्याग्रह और हड़ताल तथा
 सविनय अवज्ञा के अन्य रूप स्वातंत्र्य संपर्प के आरंभिक चरणों में तथा अन्य
 देशों में घृणावस्था में मौजूद थे पर उन्हें इस ज्ञान में प्रनर और पूर्ण बनाना
 गया। ये भी गांधीवादी विरासत के प्रगतिशील पहलुओं के बटुमून्व अय हैं।
 कट्टरसंपी समझदारी के बने रहने के कारण कुछ समय तक वामसंधी, नाम
 धीर पर कम्युनिस्ट लोग, संपर्प के इन रूपों का इस्तेमाल करने से मन्कर
 करते रहे। किन्तु पिछले पन्द्रह वर्षों में इन्हें अचना तिनो मना है, बटुत्र ही
 प्रभावशाली तरीके से इस्तेमाल किया गया है, इनमें नयी अंतर्संस्तु का ककार

किया गया है जिसमें सामुदायिक संघर्षों के रूप में स्वयं-संघर्ष—'जिन्दगी'—का विधान हुआ है।

स्वातंत्र्य भाव की विभिन्न परिस्थितियों में तथा स्वातंत्र्य संघर्षों के अनुभव की दृष्टानुभूति में सामुदायिकों ने, स्वयं-संघर्ष पर कम्पनिस्तो भी, इन परम्परागत रूपों में नयी अवधारणा का समावेश किया है। उदाहरणार्थ, भूमि हड़ताल का प्रयोग जन-संघर्षों के स्थायीकरण के रूप में या मान-जन-सामंजसों के स्थापन के रूप में नहीं किया जाता है। यह अवधारणा स्वतंत्रता-युद्धकाल-जन-संघर्ष का आरम्भिक रूप हुआ करती है और कभी-कभी जनता-संघर्ष भूमि हड़ताल में भाग लेती है। यही स्थिति सत्याग्रह के आरम्भ के प्रयोग के बारे में है। जनता की संघर्षों के मंच के केन्द्र में लाया जाता है। इस कारण प्रायः कांग्रेसी हस्तों से विरोध का स्वर उठना है कि भूमि हड़ताल और सत्याग्रह का दुरुपयोग किया जा रहा है और इन आन्दोलनों का प्रयोग वे ही कर सकते हैं जो संपूर्ण गांधीवादी दर्शन को स्वीकार करने हों और जो किसी शुद्धिकरण की प्रक्रिया से स्वयं को दीक्षित कर चुके हों। उनसे यही उम्मीद की जाती है क्योंकि मौजूदा मासक जो बात नहीं चाहते हैं वह यह कि गांधीवाद के युद्धकाल-पदतुलों में जनता निमज्जित हो जाय। फिर भी जनता की यह शिरकत ही गांधीवाद को एक उच्चतर स्तर पर पहुँचाती है और इसे स्थायी करती है।

कुछ लोग विरोध प्रकट करते हुए यह कह सकते हैं कि स्वयं-संघर्ष गांधी जी ने जन-संघर्ष की ऐसी अवधारणा की थी और उस पर व्यवहार किया था और इसलिए यह सुझाव देना निरर्थक है कि गांधीवाद को एक उच्चतर स्तर पर पहुँचाया जा रहा है। वास्तव में ऐसा नहीं है। वास्तविक सत्याग्रह और अनशन को सदा चुने हुए थोड़े लोगों तक सीमित रखने की कोशिश की जाती रही थी। जनता भी संघर्षों में उतरती थी पर स्वयं-संपूर्ण रूप में अधिक और संगठित रूप में कम। प्रायः ही उसे अपनाते से इनकार कर दिया जाता था और इस आधार पर आन्दोलनों को वापस ले लिया जाता था कि सत्याग्रह के अनेक नियम भंग कर दिये गये हैं। अब प्रयास यह है कि जन-संघर्षों को इन्हीं रूपों में संगठित किया जाय, इन्हीं रूपों के जरिये सत्ते और संगठित तरीके से अवाम से सक्रिय शिरकत करायी जाय। सारा अर्थ प्रायः यह है कि इस विचार को प्रश्रय न दिया जाय कि संघर्षों के रूपों को इतने 'दुष्कर' और 'शुद्ध' होना चाहिए जिससे उसमें चुने हुए चंद लोग ही भाग सकें। जन-संघर्षों की दार्ढ्य ऐसी होनी चाहिए जिससे अधिकतम संभव संघर्षों में अवाम उसमें भाग ले सकें और संघर्षों के रूप भी ऐसे होने चाहिए कि अधिकतम सीमा तक अवाम के संगठित हो सकने में सहायक हों। 'सरक कांग्रेसी जो यह महसूस करते हैं कि जनता सत्याग्रह को 'अपवित्र' कर

है और 'वामपंथी' जो यह महसूस करते हैं कि संघर्ष के ये रूप अवाम को 'शीण' बना रहे हैं, दोनों ही इस प्रश्न के उक्त पहलू की ही उपेक्षा कर जाते हैं।

पर वामपंथियों, खास तौर से कम्युनिस्टों ने संघर्ष के गांधीवादी तरीकों का इस्तेमाल और उनमें नयी अंतर्वस्तु का संचार ही नहीं किया है। उन लोगों ने इन्हें मजदूर वर्ग के परंपरागत रूपों—आम हड़ताल—से जोड़कर 'बंद' नामक एक रूप को जन्म दे दिया है। इस अंतर को योजनाबद्ध तरीके से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है : गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन की हड़ताल में दुकानें बंद हो जाती थीं और तब आम तौर पर मजदूर हड़ताल करके उनका साथ देते थे, जब कि 'बंद' में मजदूर वर्ग हड़ताल करता है और दुकानें उनका साथ देने के लिए बंद हो जाती हैं। प्रकटतः अंतर रूप में आया है पर वस्तुतः परिवर्तन वर्ग नेतृत्व में आया है। यह महत्वपूर्ण और स्वाभाविक है कि 'बंद' शब्द ने लगभग सार्वभौम लोकप्रियता हासिल कर ली है और वस्तुतः राष्ट्रीय, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय, शब्द-भंडार का अंग बन गया है। यह उच्चतम स्तर की सृजनात्मकता है और नये युग का लक्षण है।

जहाँ तक गांधी जी के राजनीतिक कार्यक्रम के सकारात्मक पक्ष, खास तौर हिन्दू-मुस्लिम एकता और अस्पृश्यता के उन्मूलन पर उनके जोर का सवाल है, इसके उत्तराधिकारी भी वामपंथी, खास तौर पर कम्युनिस्ट ही हैं। बल्कि यह सक्षित कर देना जरूरी है कि वामपंथी और कम्युनिस्ट आन्दोलनों ने अपने जन्म काल से ही इन विषयों पर मोटे तौर पर समान उद्देश्य लेकर स्वयं अपने कार्यक्रम प्रस्तुत किये थे। वे कहीं अधिक विवेकयुक्त और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से निदिष्ट थे जिससे इस समस्या की उनकी समझदारी और प्रस्थापना गांधी जी से कहीं अधिक दो ढ़क थी। सबसे बढ़कर वे वर्ग एकजुटता की अवधारणा प्रस्तुत कर सके थे जिसने जनता की एकता निमित्त करने का स्वस्थतम आधार प्रदान किया। स्वातंत्र्योत्तर काल में भी वह जारी है। इस काल की स्थिति में आयी नयी बात यह है कि इन समस्याओं की जड़ें उससे ज्यादा गहरी हैं जितनी समझी गयी थी और मात्र आर्थिक वर्ग संघर्ष और आर्थिक वर्ग संगठन इन समस्याओं को हल करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इन बात का अहंसा पैदा हुआ है कि सम्प्रदायवादियों और जातिवादियों से हमें—भारतीय विरासत को आत्मसात करते हुए—लड़ना है। गांधी जी ने इसका अपने ही तरीके से प्रयास किया। भारतीय वामपंथ, खास तौर पर कम्युनिस्टों को भी यह करना है पर अपने ही तरीके से। उन्हें वर्ग एकजुटता की अवधारणा का परिष्कार करके इस तरह के भ्रामक सिद्धान्तों को नहीं अपनाना चाहिए कि भारत

में जानि ही बर है, व ही 'राष्ट्रीय' बर्णन आदिकी की सोच में अन्वयपूर्णता
को मान लेने की कौशल कर्तवी चाहिये।

द्विज भी हमारे देश के अतीत वर आलोचनात्मक सूचनात्मक बर्णन, मोक्ष
उदान और प्रयोगी है, जो कुछ मानवतावादी और ऊचा उदान मान है, व
आधुनिक मानव में उदमे लागी ही बरी न ही, उम मवका विपन्न बर्णन का
दायित्व सिमा है निमित्त बर्णनात्मक नही जा सकता। राष्ट्रीय विपन्नता में उ-
राष्ट्रवादियों और प्रतिस्पर्धावादियों की ही पावना पहुँचता है। इनकी उ-
विपन्न और पराम्पन किया जा सकता है अब सामर्थ्य और सम्बुद्धि कर्त-
वन की उ-धे मापी ही की भावि भारतीय विपन्नता में उमी ही। वाचर उ-
वन की उ-धे उरोज और अनिश्चित बर्णन के उ-धे जा सकता है : गौता की
लेकर लड़ाई में जो विजयी होया, वही भारतीय मानव के मन्त्र के नि-
लड़ाई में विजयी होया। यह कोई संयोग की बात नही है कि हर महानु-
भारतीय आन्दोलन का अन्त गौता रहस्य रहा है।

एस प्रसंग में यह कह कर उ-धे उ-धे किया जा सकता है कि गौता की
अव उमी उ-धे भारत के एक अंग है जैसे हिमालय या गंगा और उनके प्रति
भी ऐसा ही आलोचनात्मक किन्तु गैर-निपेक्षणीय दृष्टिकोण अपनाता पड़ेगा।

एक अद्वितीय नेता

हीरेन मुखर्जी

ये पंक्तियाँ ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखी जा रही हैं जो अपने तात्कालिक के आरंभ के दिनों में गांधी जी का एक किस्म का भक्त ही था, किन्तु जब उसे यह विश्वास हो गया कि इस सदोप संसार में संभव हृद तक केवल कम्युनिज्म से ही समाज की बुराइयों का निदान हो सकता है, तब वह उनसे अलग हो गया।

वैयक्तिक समीकरण की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती, तथा गांधी जी के जीवन और कृतिरव के प्रति कम्युनिस्ट पार्टी के (या वस्तुतः अन्य किसी राजनीतिक संगठन के) उन लोगों की प्रतिक्रिया में, जिन्होंने गांधी युग के उल्लास और मोहभंग का अनुभव किया है, तथा उन लोगों की प्रतिक्रिया में जिन्होंने इनका अनुभव नहीं किया है, अंतर अवश्य होगा। फिर भी गांधी जी एक समूचे ऐतिहासिक युग पर इतनी भव्यता के साथ छाये रहे कि एक उग्र राजनीतिक विवाद के मोके पर भारतीय कम्युनिस्ट पाचवें दशक के आरंभ में उन्हें 'राष्ट्रपिता' कहने में नहीं हिचके। महत्व की बात है कि सुभाषचंद्र बोस ने भी उनके लिए इसी सम्मान-सूचक संबोधन का प्रयोग किया था जब कि वह भारतीय स्वतंत्रता के लिए विदेश से कार्य कर रहे थे और ऐसे तरीकों का इस्तेमाल कर रहे थे जो गांधी जी के तरीकों के एकदम विपरीत थे। इसलिए इस बात पर जोर देना जरूरी है कि बुनियादी मतभेदों के बावजूद हम उनका बालोचनात्मक दृष्टि से किन्तु श्रद्धापूर्वक अध्ययन करते हैं, और जहाँ उनके तथा उनकी उपलब्धि के बारे में अक्सर जो रस्मी वाहवाही की जाती है, उसमें से काफी कुछ हम स्वीकार नहीं कर सकते, वहीं हम उनका ऐसे व्यक्ति के रूप में आदर करते हैं जिसने स्वयं को अन्य हर किसी से बड़ कर, जैसा कि हम कह सकते हैं, अपनी जनता के जीवन से मूलवद्ध किया और भारतीय राजनीति के वातावरण को इतना बदला जितना किसी एक व्यक्ति द्वारा संभव हो सकता है।

: १ :

भारत में एक उचित तरीके से संगठित और कार्यशील कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के भी पहले गांधी जी भारत के स्वातंत्र्य संघर्ष के नेता और प्रतीक

बन चुके थे। १९२७ की शोचनीय जर्मन विद्रोह का दिमा देने वाले
 धरना था, तथा विद्रोह के सुनिश्चयों और भारत में बड़ी मात्रा में मोहर
 प्रतिष्ठापकों के मानव कर्मक्षेत्रों के विचार, देश की अस्थिरता प्रति-
 स्थितियों में, अतिव्यवस्था एक प्राकृतिक शक्ति को बरत कर रहे थे। ऐसा
 नहीं हो सकता कि गांधी जी को यह निर्दिष्ट न रहा हो, कांग्रेस के अग्रगण्य
 व्यक्तित्व (दिसम्बर १९२९) में एक कर्मक्षेत्र द्वारा निर्दिष्ट किया गया
 था। उन दिनों अग्रगण्य आन्दोलन अतीत समाकाश पर था। उन दिनों
 में एक ऐसे उभार का आन्दोलन किया गया था जिसे "मानव शैक्षणिक शिक्षा के
 लिए संघर्ष रूप में संघर्ष का समाप्त करना को अग्रगण्य शक्ति का समर्थन" प्राप्त
 हो। शोचनीय के उभार का उभार, जो अपने प्रतिष्ठितों का इतिहास अतिव्यवस्था
 कर केना आता है कि वह उभार और अग्रगण्य में कृषक मने, गांधी जी अपने
 जीवन में यह कला करने थे कि मैं उन लोगों में बढ़ कर समानता, या
 कम्युनिस्ट हैं मित्रों इतना किन्ना गया रहा है। चाहे यह कृषक ज्यादा
 उचित होगा कि गांधी ने अपने लिए नवीन किन्तु विद्रोह को दिना देने वाले
 विचार संबंधी संघर्ष को, पहले भावनात्मक स्तर पर और फिर बौद्धिक स्तर
 पर, रोजने की कोशिश की थी। एक बार काशी प्रोड्र आयु में जेल में उन्होंने
 मासिक की पूंजी को पढ़ने का प्रयास भी किया था। यह कम्युनिस्टों से मिले
 थे, उनसे बातचीत की थी, और उनमें तथा उनके विचारों में उन्हें
 कुछ आकर्षक सूचियां मिली थीं, पर इनसे ज्यादा ऐसा था जितने उन्हें
 विकसित किया। कभी-कभी यह कम्युनिज्म के बारे में "लाल विनाश" के रूप
 में सोचते थे। वेशक, कम्युनिज्म के बारे में वह केवल यह ही नहीं सोचते और
 समझते थे पर उनकी उक्त शब्दावली उनके जैसे मस्तिष्क के लिए अला-
 क्षणिक नहीं थी। यह सच है कि होमर ए. जैक जैसे दिशावटी गांधी-भक्तों की
 सचमुच पंचमेल भीड़ ने इस पक्ष को गद्गद् भाव से झपट कर धाम लिया है।
 इन जैक महोदय ने तो बड़ी मेहनत से कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा चुन कर
 एक "गांधी रीडर" भी गढ़ डाली है।

इसलिए, इस बात पर अचरज नहीं होना चाहिए कि समय-समय पर
 भारतीय कम्युनिस्टों ने गांधी जी के विचारों, और उससे भी बढ़कर उनके
 कार्यों के प्रति बहुत ही तेज तथा अत्यन्त आलोचनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त की।
 यह याद रखना जरूरी है कि जवाहरलाल नेहरू तक ने गांधी जी के "असा-

१ रजनी पाम दत्त के आज का भारत (बंबई, १९४६) में उद्धृत, अंग्रेजी,
 पृ. २८५-८६.

२ हरिजन, जनवरी १९४०.

‘‘भारण विरोधाभास’’ पर आश्चर्य प्रकट किया है कि ‘‘अहिंसा के प्रति अपने सारे उत्कट उत्साह के बावजूद’’ यह ‘‘ऐसे राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे’’ का समर्थन करते रहे जो ‘‘सम्पूर्णतः हिंसा और बल प्रयोग पर आधारित होता है।’’

: २ :

गांधी जी के प्रति हममें से बहुतों के हृदय में हर दृष्टि से इतना गहरा सम्मान है कि अधिकांश गांधीवादी उसकी कल्पना नहीं कर सकते। किन्तु इस सारे सम्मान के बावजूद ऐसे मतभेद भी हैं जो हमें इस महापुरुष से अलग कर देते हैं—ऐसे मतभेद जिन्हें छिपाना निरी चेईमानी होगी। वगैरों का संघर्ष जीवन का एक ऐसा सत्य है जिसे न तो हमने ईजाद किया है और न जो हमें प्रीतिकर लगता है। और, सामाजिक इतिहास में हम जो इस संघर्ष को देखते हैं, तो वह न तो किसी अज्ञेय विवृति के कारण है और न संघर्ष और हिंसा के प्रति हमारी किसी अनैतिक (या नैतिकेतर) रुझान के कारण। किन्तु गांधी जी के चिन्तन में—बिना किसी ज्ञात साध्य या स्वीकार्य संकल्पना के आधार के ही—ऐसे रामराज्य की संभावना स्वीकार कर ली गयी है जिसमें बस किसी समन्वय से, सारे विसंगत हितों के बीच ‘‘स्वतः संतुलन’’^१ स्थापित हो जायेगा। हाल के दशकों में जो कुछ घटित हुआ है उस सबके बावजूद हम पर भी अक्सर ‘‘अभारतीय’’ होने का इसलिए आरोप लगाया जाता है कि हम—आस्थावाद नहीं बल्कि तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर—यह मानते हैं कि औद्योगीकरण सदा की भांति अब भी उम अराम की एकमात्र आशा है जो सारे संसार में हर कहीं अभी भी कंगाल है। कहने का आशय यह कदापि नहीं कि औद्योगिक समाज, जैसा कि हम जानते हैं, सब कुछ ठीक ही ठीक है; नहीं, उनमें बहुत कुछ गलत है और उसे ठीक किया जाना है। हमारा आशय यह कदापि नहीं है कि हम तयाकथित श्री-समृद्धि के दिखावटी आकर्षणों के प्रलोभन में बह जायें; हमारा बुनियादी लक्ष्य श्री-समृद्ध समाज उतना नहीं है जितना घोषण-विहीन समाज है। पर हम दावे के साथ कहते हैं—और यह दावा उतना ही बटल है जितना अन्य कोई भी दावा हो सकता है—कि रामराज्य के ऐसे स्वप्न में डूब जाना गलत और आत्मपराजयकारी है जिसका कभी अस्तित्व ही नहीं रहा। सच तो यह है कि गिने-चुने रंगमहलों को छोड़ कर मानव जाति की जीवन-दशायें, आज हमारे इस जमाने तक, लगभग अकथनीय

^१ पद्महरलाल नेहरू, दुबईस प्रोडम (न्यूयॉर्क, १९४१), पृ. ३१८-१९.

^२ टी. के. उन्तियन, गांधी एंड फ्री इंडिया, (बंबई, १९४६) पृ. २३०.

के सर्जक थे—एक विस्मयकारी व्यक्ति, भारतीय धरती के, सांसारिक तथा शक्ति और चरित्र की असाधारण क्षमता से सम्पन्न व्यक्ति। फिर भी वह समाज में वर्ग से ऊपर और वर्ग हितों से उदासीन नहीं हो सके; अहिंसा की नैतिक अवधारणा के प्रतिपादक के रूप में भी वह सामाजिक शून्य मे कार्य नहीं कर रहे थे। उनके अपने वर्गगत नाते-रिश्ते थे और उनका अपना ऐसा दृष्टिकोण था जो उन वर्गगत सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता था जिन्हें उन्होंने सहज ही ग्रहण कर लिया था। अतः जहाँ यह दावा करना मूल्यता होगी (जैसा कि थापद कम्युनिस्ट लोगों ने कभी-कभी उत्साह के अतिरेक में किया) कि गांधी जी पूंजीपति वर्ग के सचेत और स्वैच्छिक अस्त्र थे, वहीं इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करना भी बुद्धिहीनता होगी कि गांधी जी अपने जीवन में बार-बार “समझौते की खूबसूरती” पर—अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ संपर्क में ऐसे स्वीकार्य समझौते की खूबसूरती पर जो देश की कुछ आशाओं को संतुष्ट कर सके तथा उग्र जन-विस्फोट को दूर रख सके—जोर देते थे। इस बात पर जोर देकर वह कुछ करना चाहते थे, उसका मेल पूंजीपति वर्ग की इस आकांक्षा से बैठता था कि सीमित प्रयास किये जायें, सीमित आर्थिक और राजनीतिक उपलब्धियाँ हासिल की जायें तथा सबसे बड़ कर, क्रान्ति की समस्त संभावना तथा उसके साथ जुड़े अपरिमेय सामाजिक-आर्थिक परिणामों से बचा जाय। यह बात बार-बार देखने में आयी थी कि पूंजीपति वर्ग, अपने उन ‘नरम दलीय’ तबकों समेत जो कांग्रेस से भी कतराते थे, यह जानता था कि जनता के उथल-पुथल के जिस तूफान को नियंत्रित कर सकने में वह सर्वथा असमर्थ था, उस पर केवल गांधी जी ही काबू पा सकते थे। चौरी-चौरा (फरवरी १९२२) से लेकर जब कि उन्होंने एक ऐमे विराट आन्दोलन को रास खींच ली थी जो परिपक्व होकर जुम्झारू रूप से रहा था, नाबिक विद्रोह (फरवरी १९४६) तक जो वस्तुतः एक ज्वरदंस्त देशव्यापी उनार का धरम उत्कर्ष था, यह बात बार-बार देखने में आयी कि केवल गांधी जी ही अवागम के बीच अपनी अद्वितीय साख के कारण, अपने चरित्र की जानी-भानी निःस्वार्थता और भय्यता के कारण, जनता के हृदय की बसीभूत करने की अपनी विलक्षण क्षमता के कारण जो भी राजनीतिज्ञों के मन के बाहर की बात होती है, क्रान्ति को रोक सकते थे और साथ ही अवागम से प्राप्त शक्ति को अपना आधार बनाते हुए साम्राज्यवाद के साथ अमोवेश टीक खंचने वाला सौदा पटा सकते थे।

: ३ :

१९वीं शताब्दी के फ्रांसीसी चिन्तक रेनां ने एक बार कहा था कि जब निपति किसी महापुरुष की विनष्ट नहीं कर पाती तो वह उनके पास प्रतिशोध

में कुछ जितना भेज देती है। इस प्रकार गांधी जी के दिग्ग 'पत्र' और 'अहिंसा' जैसे शब्दों की पीठ की तरह खड़े हैं और इनमें अपने जुड़े होने का दावा करते हैं, हालांकि, इस की बात है कि प्रत्येक विचारित दम्पितों की तरह वे उनमें कुछ-कुछ करते हैं। उनके विचार में गांधी जी ने बन्दुओं की ओर स्वयं अपने आर्तिपत्र व तरीकों में भारत की सार्वभौमता हासिल की और उनके इस श्रेय में वे आम तौर पर स्वयं माम उठाने की भरपूर कोशिश करते हैं। अलग मंच यात्रा करती यात्रा की गांधी जी और उनकी संतों की भारतीय स्वतंत्रता का इस तरह श्रेय देना समझ गानिम झूठ है। नाल के मुमुग्गान निकेतन में प्रतिक प्रतीक है, तथा हमारे राष्ट्रीय जानोवन के प्रतिक मूल रहे हैं। स्वतंत्रता के लिए सघर्षण भारत के इतिहास में किसी एक व्यक्ति ने उतनी बड़ी भूमिका नहीं अदा की जितनी महात्मा गांधी ने, पर उन्होंने बिनकुल नयी जमीन नहीं तोड़ी, न ही अकेले मारा काम किया। उन संघर्ष के कीर्तिमानों को न तो फिर में गिनाने की जरूरत है और न उन्हें गिनाया जा सकता है। इस संघर्ष में एक छोर पर वे लोग थे जो कभी अहिंसा के फायल नहीं हुए जैसे क्रान्तिकारी 'आतंकवादी' तथा मुद्र कालीन 'आजद हिन्द फौज' जिम्मा नेतृत्व 'भिताजी' गुभाषणन्द घोस कर रहे थे, तथा इन्हे छोर पर कारतानों और गेनों के मेहनतकश लोग थे जिन्होंने शक्तिशाली तथा आम तौर पर (गांधी जी और गांधीवाद से) स्वतंत्र भूमिका अदा की है। यह बिलकुल ठीक जचने वाली दलील दी जा सकती है कि स्वतंत्रता के इनके संघर्ष का इतिहास बार-बार यह प्रकट करती है कि स्वयं सत्याग्रह से अधिक सत्याग्रह की बंधी लीक से जनता के क्रुद्ध होकर हटने के कारण साम्राज्यवाद के हृदय में भय उत्पन्न हो गया और एक मंजिल पर पहुंच कर उसके अस्तित्व का भारत में जारी रहना असंभव बना दिया। हमारा उद्देश्य देशभक्तिपूर्ण संघर्ष में जनता को लामबंद करने वाले एक जबर्दस्त हेतु के रूप में सत्याग्र की प्रमाणित भूमिका को अस्वीकार करना या उसकी सिल्ली उड़ाना नहीं (बल्कि यह तो गांधी जी का बेजोड़ अवदान है); किन्तु भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में सत्याग्रह की अनन्य शक्ति का दावा करना अन-ऐतिहासिक और असत्य है। यह कोई संयोग की बात नहीं बल्कि एक महत्वपूर्ण घटना है कि और जब अगस्त १९४७ में स्वाधीनता का आगमन हुआ वह गांधी जी हृदय में आलोक नहीं लायी, बल्कि उनके हृदय में एक ऐसी नयी पीड़ा पैदा कर गयी जिसने उनकी जीवित रहने की इच्छा को ही समाप्त कर दिया। उनके शिष्यों ने जैसे एक निश्चित मंजिल पर पहुंच जाने के साथ संतुष्ट लेना पसंद किया और "इतने कम रक्तपात और हिंसा से" की गयी उपलब्धि पर फूले नहीं समाये। पर गांधी जी को इस तरह के मिथ्यावाद से बच

नहीं बनाया जा सकता था कि भारत को अपनी आजादी के लिए कोई ज्यादा कीमत नहीं चुकानी पड़े। जान बूझ कर विभाजित किये गये भारत को साम्राज्यवाद द्वारा सत्ता के हस्तांतरण में ही यह निहित था कि उस घटना के पहले और बाद में तथा उसकी आनुपंगिक अनिवायंता के रूप में इतनी मानव यंत्रणा सामने आयेगी जो परिणाम और प्रखरता की दृष्टि से शायद इतिहास की किसी भी महान् क्रान्ति के साथ आने वाली यंत्रणा से मुश्किल से ही कम हो। यही नहीं, ऐसी क्रान्तियों से भिन्न दो राज्यों के निर्माण के पहले और बाद में भारत और पाकिस्तान की जनता को जो यंत्रणा भुगतनी पड़ी, वह मूलतः बिल्कुल बेमानी थी और किसी बड़े कार्य की प्रेरक कतई नहीं थी। यह ऐसी यंत्रणा थी जिसकी पीड़ा को किसी आदर्श के आलोक से घटाया नहीं जा सकता था, जो शरीर और आत्मा को अवसन्न कर देती है तथा वेदना के दौरान चरित्र के उन्नायक गुणों को मुक्त नहीं करती है। यह तो ऐसे हुआ जैसे कि हमने अपनी आजादी ऐसे सिक्के से खरीदी हो जो नैतिक दृष्टि से जाली था और जिसने हममें ऐसे नैतिक अधःपतन को जन्म दिया जो तब से हमारे साथ लगा है। जिस तरह हमने अपनी आजादी जीती—अगर उसे जीतना कहा जा सकता हो—उसने बाद की हर चीज पर एक अवांछित धाप छोड़ी और सबसे बड़ कर उसने महान् गांधी को उदासी से भर दिया।

यह सब कहने का अर्थ यह नहीं कि देश की आजादी तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के दायित्वों, दोनों के मामलों में गांधी जी के कार्य को घटा कर आकने की भूमिका पेश की जा रही है। हमारी समस्याएँ विपुल और पेचीदा हैं। उत्तराधिकारी होना खतरनाक है और हम पांच हजार वर्ष के बहुरूपी इतिहास के उत्तराधिकारी हैं। सामाजिक और आर्थिक ग्रंथियाँ ऐसा अटाला हैं जिसे आसानी से साफ नहीं किया जा सकता और इच्छा-नुष्टिमूलक सिद्धान्तों द्वारा तो निश्चय ही नहीं किया जा सकता। गांधी जी एक साथ रुढ़िवादी और धार्मिक दोनों ही थे। बनोखी सूझ के साथ लेनिन ने एक बार उनके बारे में कहा कि वह दो विरोधी संसारों के बीच मंडराने वाले 'तोन्तोय के भारतीय शिष्य' हैं। उनकी सूझ यह थी कि यदि उनका मिजाज ठीक हुआ और परिस्थितियों ने साथ दिया, तो वह कोटि कोटि-जनता को आन्दोलित कर सकते थे। उनकी खामी यह थी कि वह बीच में ही रुक जाते थे जिससे संपर्क को क्षति पहुँचती थी क्योंकि उनके मन में कुछ विचित्र विरोध धर किये हुए थे, या यह कहना ज्यादा सौम्य होगा कि वह "साध्य और साधन" के अनन्त प्रश्न तथा हिंसा से बचने की समस्या में सर्वाधिक उलझे रहे।¹

¹ उन्निपन, पूर्वोक्त रचना में इस विषय को कुशल चर्चा की गयी है.

सहजत्व, भारतीय जीवन को साधन साधनी को भी अपने वही रूप कौशल की निर्यात कराना से बढ़ कर, अंधकार की भावना को। अपने प्रांशिक जीवन से भारतीयों को निर्यात को साधनी को जो निर्यात अंधकार से ऐसे अनुभवों से पुनर्जन्म पदा को निर्यात से अंध को तथा एक अनुभव और अपने प्रीति निर्यात की भाव से ही अंधकार खरिन बना था।

“मैंने पहले ही दिन देखा कि भारतीयों को अंधकार की भावना के साथ अपने आत्मागतिकता बर्णन करते हैं।... मारिट्जवर्ग से एक पुस्तक आने लगी मुझे यकना देकर देन से वादा कर दिया और देन के घोरे रने के बाद मैं कटाके की ओर से प्रतीकवाद से अंधकार कागजा हुआ बैठा था। मुझे गहरी पता था कि मेरा आत्मागतिकता है, यही हम पर से मुझे सिद्धि से पूरने की हिम्मत थी कि वही मुझे फिर न आत्मागतिकता दिया जन्म मुझ पर हमला बोल दिया जाय। जीद भावे वा कोई समान ही वही पैदा होगा था। मेरे मस्तिष्क पर संदेह हावी हो गया। रात को देरने मैं इन निष्कर्ष पर पहुंचा कि भारत वास्तव भागना पुनर्जन्म होती। मैं जो बीड़ा उठाया है, उसे मुझे पूरा करना चाहिए।”^१

ये स्वयं गांधी जी के शब्द हैं, जिन्हें उन्होंने गीन भाव से यह दिना फा पर जो तूफानी अर्थ दियाये हैं। देन से निकाल दिया जाना और एक गड़बड़ द्वारा हमला तुच्छ घटनायें मान्य पड़ सकती हैं, क्योंकि इस तरह का अन्तर्गत करना और पीड़ा पहुंचाना आम बातें थीं। पर एक संकोची और संवेदनशील युवक ने इन्हें ऐसे धर्म के साथ सहन किया जो उसमें उस समय पैदा हुआ था उसे यह अहसास हुआ कि उसे इमे न सिर्फ अपने हक में बल्कि दूसरे लोगों के हक में सहन कर लेना चाहिए। इसके साथ उनके मन में से विस्वास का उद हुआ जो वैसे ही वैसे बढ़ता गया जैसे-जैसे वह दक्षिण अफ्रीका में—कष्ट व रचनात्मक तरीके से अपने सिवा दूसरे लोगों की मुक्ति के लिए इस्तेमाल कर के लिए—संघर्ष करते रहे। वर्यो वाद गांधी जी ने कहा : “मुझे अपने प्रभो में समस्त मानव जाति को समेटना चाहिए।” मारिट्जवर्ग में उनकी लो पूरी नहीं थी, पर वहीं उनका ऐसे जीवन में पुनर्जन्म हुआ था जिसे एक ब घरातल पर जिया जाना था।

^१ मो. क. गांधी, सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, (अहमदाबाद, १९२६ पृ. ४२.

सदमा पहुँचाने वाले इस अनुभव ने गांधी जी को बुरी तरह भ्रूणमोर दिया और भय के बंधनों से पहले-पहल मुक्ति दी—हमारे प्राचीन पुरुषों के धर्मों में अभय बना दिया। यह अभय न केवल भौतिक साहस था, बल्कि हृदय से भय का सकारात्मक निषेध था। अपने बहुरंगी जीवन के गतिशील धरणों में गांधी जी ने अपनी जनता में जितनी निर्भयता जगायी उतनी कोई एक व्यक्ति नहीं जगा सका—और वह थी राज्य के दमन तथा सामाजिक निन्दा के प्रति निर्भयता, न सिर्फ राज्य के बल-प्रयोग करने वाले यंत्र के प्रति बल्कि सारे निहित स्वार्थों के प्रति निर्भयता, भूख और मुसीबत का सामना करने पर भी निर्भयता। किन्तु वस्तुतः किसी के उपदेश के जादू से पल भर में भय की काली छाया को दूर नहीं किया जा सकता था—फिर भी यह दुहराना जरूरी है कि अपनी जनता को गांधी जी ने जो सर्वोत्तम विरासत दी वह अहिंसा नहीं बल्कि अभय था।

: ५ :

हमारे तथाकथित 'आतंकवादी' यह प्रमाणित करने के लिए कि विदेशी प्रभुत्व हमें नामंजूर है, मोत को भी चुनौती देने को तत्पर रहते थे। वे ऐसे लोग थे जिनका भारत सदा सम्मान करेगा क्योंकि उन लोगों ने हमें अपने पुरुषत्व का स्वामिमान पुनः प्रदान किया। उनके तथा अहिंसा के देवदूत गांधी जी के बीच बहुत चौड़ी खाई है किन्तु अभय के घरातल पर दोनों आ मिलते हैं। गांधी जी कहते : "प्रतिरोध मत करो, किसी भी हालत में हिंसा का जवाब हिंसा से मत दो," पर साथ ही वह यह भी सापथ देंगे : "साहसी बनो, डरो मत"—क्योंकि उनकी दृष्टि में, जैसा कि वह दृढ़ता के साथ कहने से कभी हिचकते न थे, हिंसा बुजदिली से सदा थोड़ा है। उनकी अहिंसा बहादुर की अहिंसा थी, दम्बू तरीके से मौन स्वीकृति दे देने वाले की नहीं। गांधी जी एक ही चीज से नफरत करते थे और वह थीं कायरों की भयावृत्ता और चीनतापूर्ण कानाफूसी। और बहुत कुछ देवालय से जरपरस्तों को झिड़क कर बाहर निकालते हुए ईसा मसीह की तरह उन्होंने ब्रिटिश सिंहासन से रिरिखाते हुए मिनतें करने वालों से हमारे आधुनिक जीवन को स्वच्छ किया। वे इसका लगातार निर्वाह नहीं कर सके, किन्तु यह हमारी मानवीय आसदी का एक अंग है।

महात्मा कह कर जब उनकी जयजयकार शुरू हुई उससे पहले भी वे प्रामः ऐसा साहस प्रदर्शित करते रहे जिसमें अपने साधियों के बीच अपनी प्रतिष्ठा को भी दाब पर लगाने से नहीं हिचकते थे। उनसे फरवरी १९१६ में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर भाषण देने को कहा गया।

होगा—आइंवरहीन, खरा, भारत के भारी पतन पर कशापात करने वाला
 मावोदिक उत्कृष्ट दृष्टांत ।

लगभग उन्ही दिनों उन्होंने स्वदेशी आत्मनिर्भरता की आवश्यकता तथा
 जनता की गरीबी के बारे में मद्रास में कहा :

“यह सब अर्धहीन मालूम पड़ सकता है । भारत ही अर्धहीन चीजों का
 देश है । अगर कोई सद्य मुसलमान पीने के लिए शुद्ध जल देने को तैयार
 हो तो प्यास से गला सुखाना अर्धहीन है । और फिर भी हजारों हिन्दू
 किसी मुस्लिम परिवार का पानी पीने की जगह प्यास से मर जाना
 बेहतर समझेंगे । अगर इन सिरफिरे लोगों को यह विश्वास दिला दिया
 जाय कि उनके धर्म का तकाजा है कि वे केवल भारत में बने वस्त्र पहनें
 और केवल भारत में पैदा किया गया अनाज खायें, तो वे और विसौ
 कपड़े के पहनने या और किसी अनाज को खाने से भी इनकार कर
 सकते हैं ।”

यह भारत के सार्वजनिक जीवन में एक सर्वथा नया साहसी स्वर था—
 एक ऐसे व्यक्ति का स्वर जो वस्तुतः भारत की ही धरती से आविर्भूत हुआ था,
 एक ऐसा व्यक्ति जो अज्ञात, परस्पर विरोधी, नामुमकिन बातें करता था और
 फिर भी ऐसे साहस, ऐसी व्यग्रता तथा आस्था के ऐसे आग्रह के साथ इन बातों
 को कहता था जो पहले कभी नहीं देखने में आये थे ।

ऐसे व्यक्ति के मामले में यह बात उसकी आदत में शामिल थी कि वह
 छोटे और बड़े सभी लोगों की शिकायतों पर ध्यान दे और उनको दूर करने
 के लिए कोशिश करे । और इसीलिए अपनी नरमपंथी प्रवृत्ति के बावजूद वह
 प्रथम विश्व युद्ध (१९१४-१८) के बाद की तूफानी राजनीति के अंधार में निच
 आये तथा उसके नेता और केन्द्र बन गये । सरकारी प्रकाशन इंडिया - इन
 १९१९ में यह उल्लेख किया गया है कि वह “ऐसे किसी भी व्यक्ति या वर्ग की
 ओर से लड़ पड़ने को” तैयार रहते थे “जिसे वह उत्पीड़ित समझे ।” उन्होंने
 स्वयं को जानबूझ कर काप के क्षेत्र में सांभल रखा और इस क्षेत्र में वे
 “अनिम फैसले तक लड़ने” को और “हर बीमन पर” निम्नतम मार्गों
 को मनवाने की कोशिश करने के लिए तैयार रहते थे । वह अन्य राष्ट्रीय
 नेताओं से भिन्न तथा भूततः ध्येष्टतर थे, क्योंकि उनकी जड़ें आम जनता
 के बीच थीं, उन्होंने उन्ही का जीवन जीने और उनकी परिस्थितियों

डी. जी. तेंदुनकर, महात्मा, भांड १, पृ. २१६, देखिए होपर ए. बंफ
 (संपादन), वि नाथी रोड, पृ. १२८.

को सुधारों की संवेष्टा थी, उनके वे योग्ये दल के देकर सुधारकों से संबंधित ही ना इतरावकासे से की जायान के मजदूरी से संबंधित वा समन्वोद नमान से दले विचारों के संबंधित वा कारकासे के मजदूरी से संबंधित वा मवाह उमरवासी से संबंधित । उ-हीमे रीत-हीन मोरी से जतनी मूकत पहल की तीर छोड़े समय मे ही राष्ट्रीय मजदूरी के सुयोग्य और विपन्न राजनीतियों मे बह कर उनकी दक्षिणता स्थापित ही लयी । इन राजनीतियों ने उन्हें एक गीत-मनाश उपासी स्थापित मान कर छोड़े समय के लिए करवाना पाहा था, पर बाद मे उनके समर्थ की ही अपनी सुधारों के अनुमान मान लने के लिए मुक्त छोड़े देने और मजदूरी छोड़े की तीर जतनी जगह पहल कर लेने को बाधर होना पडा ।

: ६ :

गांधी जी का मतवाद मजदूरी वाम, अपने मोरों पर मतह पर उभर जाती थी जब उसकी कम से कम जरूरत होती थी । उनके कारण बार-बार ऐसे जन उभार निरुद्ध हो गये जिनका नेतृत्व अकेले वह ही कर सकते थे । ऐसी नीतियों १९२२ में, १९३१-३२ में, १९४०-४१ में, १९४५-४६ में आयीं । इसी अजीब तन्त्र पर एक अत्यंत विश्रुत मानसंपादी गुस्से में आकर उनकी भत्सना कर बैठे थे । अपनी क्लासिक कृति इंडिया टुडे (लन्दन, १९३९) में रजनी पाम दत्त ने, जो गांधी जी और उन जैसे के प्रति आम तौर पर बहुत ही सन्न और विनम्रता का परिचय देते थे, इन आवेशपूर्ण शब्दों में उनकी भत्सना की : "क्रान्ति का यह मनहूस व्यक्ति, संपूर्ण विनाश का यह नायक, पूंजीपति वर्ग का यह सीमाय-रक्षक ।" यह आलोचन सर्वथा अनुचित नहीं है, किन्तु जीवन के तर्कों के अपने खवत होते हैं और गांधी जी जैसे चमत्कारी पुरुष के प्रति (क्योंकि वह चमत्कारी पुरुष अवश्य थे) 'अपनाओ या तिलांजलि दो' का खल नहीं अपनाया जा सकता है । बहरहाल, इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि जब उनकी अपेक्षाएं वास्तविक होती थीं, जैसे १९२०-२१ में—उन दिनों वह १९२१ के भीतर ही स्वराज लाने का वचन दे रहे थे—तब वह सिद्धान्त के मामले में अपनी कठोरता को शिथिल करने के लिए उद्यत रहते थे । यह ऊंचे दर्जे का साहस था, खास तौर पर इस बात को देखते हुए गांधी जी कैसे व्यक्ति थे । वह जानते थे कि मुस्लिम कर्मोपदेश और उनके अनुयायी उनके बहिष्ता के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते थे, किन्तु जब जनता इतनी गहराई से उत्तेजित थी, वह आडंबर को तिलांजलि देने को तत्पर थे । ९ मार्च १९२० को उन्होंने कहा :

“कुरान पर आधारित मुसलमानों के विशेष दायित्व हैं जिन्हें हिन्दू स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। इसलिए असहयोग एवं अहिंसा के असफल हो जाने पर इस बात का निर्णय करने का उन्हें अधिकार है कि वे ऐंसे सारे तरीकों का सहारा लें या न लें जिनके लिए इस्लाम के धर्म-धर्मों में इजाजत दी गई है।”

यह एक किस्म का नैतिक जुआ था किन्तु सच्ची वीरता के साथ उन्होंने स्वयं से बंद युद्ध किया और जोखिम उठाया। असहयोग संघर्ष के चरम उत्कर्ष के समय भी वह मोपला विद्रोहियों का समर्थन करने से भी नहीं हिचके। उन्होंने कहा कि ये “बहादुर, ईश्वर भीष” लोग हैं और असह्य उत्तमनात्मक कारंवाइयों के कारण ऐसे कृत्य करने को मजबूर हो गये जिनकी बाब सम्मानित नागरिक लोग निन्दा कर रहे हैं। वर्षों बाद, १९४२ में उन्होंने ऐसे शब्द कहे जिन्हें यह देश कभी भूल नहीं सकता—ऐसे शब्द जो दुख की बात है कि उसी अनुपात में नतीजे नहीं दे सके किन्तु फिर भी साहस और चारित्र्य को अत्यधिक उद्बोधन प्रदान करने वाले थे।

१९४२ में कुछ समय तक जन-आन्दोलन संबंधी गांधी जी की परिकल्पना अहिंसा संबंधी उनके निरोधों से मुक्त रही। उन्होंने पत्रकार लुइ फिशर से स्पष्ट कहा : “गांधी में किसान टैक्स देना बंद कर देंगे।...उनका अगला कदम जमीन को छीन लेने का होगा।” जब फिशर ने आश्चर्य से पूछा : “हिंसा से ?” तो उत्तर मिला : “हिंसा भी हो सकती है, पर जमींदार चाहें तो सहयोग कर सकते हैं।” अपनी आशावादिता के लिए चुटकी ली जाने पर गांधी जी ने मजाक किया : “जमींदार भाग खड़े होकर भी सहयोग कर सकते हैं।” फिशर ने फिर से “हिंसात्मक प्रतिरोध” का होवा सड़ा किया। लेकिन गांधी जी के पास उनके लिए यह जबर्दस्त जवाब तैयार था : “संभव है, पंद्रह दिनों तक अव्यवस्था रहे, पर मैं समझता हूँ कि हम उसे धीमे ही नियंत्रण में ले आयेंगे।” ८ अगस्त १९४२ को उन्होंने एमोसिएटड प्रेस की ओर से इंटरव्यू लेने वाले पत्रकार से कहा : “अगर आम हड़ताल जरूरी हो जाती है तो मैं पीछे नहीं हटूंगा।” इससे थोड़ा पहले वे यह चुके थे : “मैं आपको एक छोटा सा मंत्र देता हूँ। आप इसे अपने हृदय पर आक सकते हैं और हर सांस के साथ उसे अभिव्यक्ति दे सकते हैं। मंत्र है : ‘नरो या मरो’। हम या तो भारत को आजाद कर लेंगे या इसकी बोधिस करके हुए जान दे देंगे।”

^१ तंदुलकर, पूर्वोक्त, पृ. ३४६.

^२ वही, खंड ६, पृ. १३५; एच. अलेक्जेंडर, इंडिया तिस क्रिस्त, पृ. ३७, ४१.

कर दे शरकर नहीं है। सर्वोदय भावना से प्रेरित भूमि को, पूरे के पूरे, गांधी के, संपत्ति के, स्वयं जीवन के सारे दान स्तुत्य-आदर्शवाद का दृष्टांत अवश्य पेश करते हैं। किन्तु किसी वास्तविक समस्या को हल नहीं करते जिससे सामाजिक आर्थिक स्पांतरण के लिए जनता द्वारा राजनीतिक सत्ता छीन लेने की आवश्यकता नहीं समाप्त होती। दर असल स्वयं जनता के संपर्प के जरिये आघार तैयार हो जाने पर सहिष्णुता और करुणा जैसे गुण और घदी से दूर रहने के सदगुण, लोगों में स्वतः आ सकते हैं। ऐसे संपर्प के लिए वातावरण को सृष्टि करने में गांधी जी ने अद्वितीय योगदान किया किन्तु स्वयं ऐसे संपर्प के प्रति वह उदासीनता और अक्सर विरोध का भाव रखते थे।

: ८ :

फिर भी हमारे देश में १९२०-२२ में और उसके बाद अनेक बार अभय की जो अग्निशिखा प्रज्वलित हुई उसको स्मरण कर भारत में किसे गौरव का अनुभव नहीं होगा? इस महान विभूति के सिवा और कौन उस तरह बोल सकता था जैसे वह १८ मार्च १९२२ को अपने "महाभिषोग" के दौरान बोले थे :

"मैं जानता था कि मैं आग से खेल रहा हूँ। मैंने खतरा मोल लिया और अगर मैं मुक्त कर दिया जाऊँ तो फिर मैं बैसा ही कलंगा।...अहिंसा मेरी आस्था का पहला सूत्र है। यही मेरे सिद्धान्त का आखिरी सूत्र भी है। पर मेरे सामने चुनाव करने का सवाल था। या तो मैं उस व्यवस्था के सामने सिर झुका देता जिसने मेरे देश को अपूरणीय क्षति पहुंचायी है या अपनी जनता के उस प्रचंड कोप का भाजन बनने का खतरा मोल लेता जो मेरी जवान से सचाई समझ लेने के बाद फूट पड़ता।"

उपर्युक्त मुकदमों में उपस्थित होने के दौरान इस शिष्टतम पुरुष के मुह से जो शब्द निकले, उनमें किसे रोमांच नहीं हो जायगा, चाहे उसका मिजाज कितना भी क्रान्तिकारी क्यों न हो :

"...सहरों में रहने वाले नहीं जानते कि किस तरह अधभूखी भारतीय जनता धीरे-धीरे निष्प्राण होती जा रही है। वे यह नहीं जानते कि उनका निरानंद सुख उस दलाली की रकम का प्रतीक है जो उन्हें विदेशी शोषक के जाने वाले उनके कार्यों की एवज में भिन्ना है, और मुनाके जनता से घूमे जाने हैं। वे यह नहीं जानते कि भारत में कानून द्वारा शायम सरकार जनता के

इस शोषण के विरुद्ध भी लड़नी पड़ी है। अनेक गांधी के संघर्ष इन सभी आंदोलनों के माध्यम से सामने आये हैं। उन्हें चुनौती के तौर पर, आंदोलनों की मांगों के तौर पर भुगतान नहीं करना पड़ा। मुझे इस बात में शक भी नहीं है कि अंततः ऊपर मजबूत है तो उसने अपने इतिहास को और भारत को गहरी सीमाओं की, दोनों को, मानवता के विरुद्ध विपरीत जा रहे हुए युद्ध का अन्त देना पड़ेगा जो मानव इतिहास में बेजोड़ है।¹

यह संभव है कि सभी आवरण पर और दो हुए जो मंदर स्तूप सामने आ जाते थे उन्हें छोड़कर वह इस भयावह रूप में जटिल संसार में भारत को आगे की राह नहीं दिखा सके। किन्तु उन्होंने हमारी जनता को युद्ध की जड़ता से जगाया और उसे इस बात की नयी योजना और साहस प्रदान किया कि सभी लोग एक साथ मिल कर पैमानिक साम्राज्यवाद से लोहा लें। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि उस विपत्तनाम के नेता राष्ट्रपति हो-ची-मिन्ह ने जिसकी बीरता ने इतिहास में एक नयी दीप्ति फैला दी है, कुछ वर्ष पहले दिल्ली में कहा था कि पत्रकारों ने जो विपत्तनाम में उनकी अपनी भूमिका और भारत में गांधी जी की भूमिका की तुलना करने का प्रश्न किया है वह "सवाल ही गलत" है। उनके विचार से ऐसी तुलना "मूर्खता" होगी। जगि उन्होंने कहा : "मैं और दूसरे लोग क्रान्तिकारी हो सकते हैं पर हम सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में महात्मा गांधी के शिष्य हैं; न इससे ज्यादा न इससे कम।"² प्रकटतः इस वक्तव्य में बहुत ज्यादा गूढार्थ रोजने की जरूरत नहीं पर यह अर्थपूर्ण अवश्य है। कम्युनिस्टों का गांधी जी से उग्र मतभेद है किन्तु उनके प्रति हमारा अभिवादन ईमानदारी का है। वह हमारी सारी प्रत्याशाओं को नहीं पूरा कर सके, किन्तु वे बेजोड़ थे और हमारे भारत का बेजोड़ प्रति-निधित्व करते थे जो वस्तुतः विपुल अतीत तथा उससे भी विपुल भविष्य के बीच खड़ा है।

¹ क्लेवटेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, खंड २३, पृ. ११०-२०.
² देखिए टाइम्स ऑफ इंडिया, (दिल्ली संस्करण) ७ अप्रैल, १९६६.

गांधी जी और १९२५ के दौर के क्रान्तिकारी

मन्मथनाथ गुप्त

गांधी जी बम के विस्फोट की तरह सामने नहीं आये। गांधी जी को समय-समय पर अपने अनुकूल नसबों की अर्थात् सही वस्तुगत परिस्थितियों की प्रतीक्षा करनी पड़ी। जवाहरलाल नेहरू ने इन शब्दों में "भगत सिंह की विस्मयकारी लोकप्रियता" की सफाई दी है :

"जन्होंने (लाला लाजपत राय ने) अपने ऊपर हुए हमले से जुड़े अपने व्यक्तिगत अपमान पर क्रोध और कटुता का उतना अनुभव नहीं किया जितना राष्ट्रीय अपमान पर। राष्ट्रीय अपमान का यह बोध ही भारत के मानस पर सवार रहा और जब उसके पीछे बाद ही लाला जी की मृत्यु हो गयी तो वह अनिवार्यतः उन पर हमले से जुड़ गयी और शोक ने ही क्रोध और आक्रोश को सर्वोच्च स्थान दे दिया। इस बात को समझ लेना बेहतर है क्योंकि तभी हम बाद की घटनाओं को, भगत सिंह की बमरबादी घटना को और उत्तर भारत में उनकी आतंरिक और आतंरिक लोकप्रियता को थोड़ा-बहुत समझ सकेंगे। किसी कार्य के स्रोतों को, उनके पीछे निहित कारणों को समझने की कोशिश करने बिना व्यक्तियों या इत्थों की निन्दा कर बैठना विहाय अज्ञान और निरा मूलतापूर्ण है। भगत सिंह पहले मुद्रागिद नहीं थे, वह एक हिंसारमक इत्थ, एक आतंरिकघाती इत्थ के कारण मोरचिय नहीं हो गये। भारत में घदा-बदा समयमें तीस बर्षों में आतंरिकघाती पत्रपत्रे रहे हैं (नेहरू जी ने यह १९३६ में लिखा था) किन्तु बंगाल में आतंरिक के दिनों के अन्तर्गत वे बभी भगत सिंह की मोरचियता का उद्घाटन भी नहीं हासिल कर सके।"

यह निश्चय ही भगत सिंह की मोरचियता का विस्तृत नहीं और कर्तव्य-विरहित है। किन्तु नेहरू जी और उनका अनुकरण करते हुए हमारे कर्षों के इतिहासकार गांधी जी की मोरचियता के विरोध पर हमें कठोर वैयक्तिक मानस का प्रयोग

इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रथम विश्व के मामले में एक भारतीय संकीर्णता का और एक लोगों के मामले में, जिस पर भारतीय दृष्टि को भी ध्यान देना है, निरालोक दुःख ही वैश्वीकरण मानकर पाया है। अगर मान्यता के लिये यह मान्यता है।

गांधी जी के प्रयोगों में अनुभवित होकर अपनी भाषा में, जहाँ जहाँ वह काम कर रहे, वहाँ काम कर रहे। उनके राजनीति में उदरने के लिए-मन कायम कर दिया गया था। इससे उन्हें एक स्वामी बनना ही किन्तु किन्तु नहीं, ऐसा कि हमारे लिए इतिहासकार चाहते कि हम मान लें। गांधी जी ने अपनी भाषा में अपनी विचारों को भी और अगर में अगर भागत पढ़ने को वांछित कर रहे थे। परन्तु जिसके न उनके प्रति उदासीनता दिखायी। नरामणों नेवा सोचते उनके हासिलता के माध्यमि। इससे बावजूद वह मुक्ति में ही आगे बढ़ गये। मौलाना (निपुरी कावेम की अध्यक्षता के लिए मुभाय धर्म के मुख्याय पराजित गांधी जी के उन्मीकरण) सितते हैं:

"१९१४ की कांग्रेस का एक दिनवदन पढ़ते यद् या कि गांधी जी विषय गतिमें नहीं बुने जा सके और इन कारण अवध ने संविकार के तहत प्राप्त अधिकार में समिति में उन्हें मनोनीत किया।"

इस तरह गांधी जी कांग्रेस के ऊंचे तलकों में अक्षरतः चोर दरवाजे से पुसाये गये किन्तु इससे भी उन्हें बहुत मदद नहीं मिल सकी। वह प्रभावहीन बने रहे और उसी तरह कमोवेश अज्ञात रहे जैसे भगत सिंह जी. के. दत्त के साथ वम फँकने और यह घोषित करने के पहले अज्ञात थे कि क्रान्तिकारियों का अंतिम ध्येय है समाजवाद की स्थापना। गांधी जी को पूरे चार साल इंतजार करना पड़ा। प्रथम विश्व युद्ध थ्रिटेन और उसके मियों की विजय के साथ समाप्त होने को था। स्वभावतः भारत, जिसने इस विजय के लिए अपना अपार रक्त बहाया था, स्वशासन न सही तो कम से कम कुछ सुधारों की अवश्य आशा लगाये था। किन्तु भारत के अन्दर क्रान्तिकारी आन्दोलन से तथा विदेशों में भी उनकी गतिविधियों से कुपित ब्रिटिश सरकार विलकुल दूसरी दिशा में सोच रही थी।

ब्रिटिश भारतीय सरकार ने १० दिसंबर १९१७ को न्यायाधीश एस. ए. टी. रॉलेट की अध्यक्षता में एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति नियुक्त की:

- "(१) भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन से संबंधित आपराधिक पद्धियों के स्वरूप और सीमा की जांच-पड़ताल करना और रिपोर्ट देना।
- "(२) इस तरह के पद्धियों से निपटने में जो कठिनाइयाँ पैदा हो गयी हैं उनको जांचना और उन पर विचार करना तथा उनसे कारगर

तीर पर निबटने के लिए सरकार को यह सलाह देना कि अगर जरूरी हो तो कैसा कानून बनाया जाय।”

समिति में चार सदस्य थे जिनमें से दो जाचे-परछे भारतीय थे। यह ध्यान देने की बात है कि सरकार को कांग्रेस की गतिविधियों की कतई चिंता नहीं थी। उस समिति ने १५ अप्रैल १९१८ को अपनी रिपोर्टें पेश की जिसमें उसने अन्य बातों के साथ-साथ सरकार को दो प्रकार के अधिकार प्राप्त करने की सलाह दी :

“पहले समूह के अधिकार निम्नलिखित किस्म के होने चाहिए :

(१) मुचलके के साथ या बिना मुचलके के जमानत तलब करने का अधिकार;

(२) रिहायश पर पाबंदी लगाने या रिहायश में तबदीली की सूचना देना जरूरी कर देने का अधिकार;

(३) कुछ कार्यों, जैसे पत्रकारिता करने, पच्चे बांटने या सभाओं में सम्मिलित होने से दूर रहना जरूरी कर देने का अधिकार;

(४) यह जरूरी कर देने का अधिकार कि व्यक्ति विशेष समय-समय पर पुलिस के पास हाजिरी देता रहे।

“हमारे समूह के अधिकार ये हों :

(१) गिरफ्तार करने का अधिकार।

(२) वारंट के तहत तलाशी लेने का अधिकार।

(३) दंड के बिना हिरासत में बंद करने का अधिकार।”

समिति ने अवांछित व्यक्तियों के एक प्रांत से दूसरे प्रांत में आवागमन पर पाबंदी लगाने और उसकी मनाही तक करने की सिफारिश की। उसने कहा :

“दूसरे देशों को लेकर भारत के साथ जो विचार लागू होते हैं उनसे बहुत कुछ समान विचार ही दूसरे प्रांतों को लेकर हर प्रांत के बारे में लागू होते हैं। अगर किसी प्रांत में द्रामितकारियों के अपराध नये सिरे से फूट पड़ें तो यह खेद की बात होगी, पर अगर वे फूट पड़ते हैं तो यह बिनाशकारी होगा कि वे प्रांत से प्रांत में फैलें जिससे संकटबालीन उपायों की उद्घोषणा जरूरी हो जाय। साथ ही पंजाब जैसे प्रांत में गंभीरतम खतरे को बचाने के लिए यह परमावश्यक हो सकता है कि

^१ समिति की रिपोर्ट, पृ. २०६-७.

शांतिपूर्ण तरीके से भी आनेवाले कुछ खास लोगों के प्रयोग को प्रोत्साहित कर दिया था।”

समिति के मुख्यालय एक विधेयक के समन्वित में दिये गये थे जिससे भारतीयों को अभी जो कोई महान सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त थी उस पर भी अंकुश लगा दिये जाने का खतरा पैदा हो गया। भारत को एक विज्ञान केंद्रमाने में बदल दिया जाने वाला था और हर भारतीय की हैमियत एक संदिग्ध व्यक्ति की या नरामाविन अपराधी की हो जाने की थी, जो कोई मुगल हैमियत नहीं है। लोग-बाग यकादासी के साथ की गयी मुद्द-कानूनी मेवाओं के कारण किसी न किसी प्रकार के डोमिनियन इस्टेट्स की आशा बाँधे हुए थे। और यहाँ एक ऐसा विधेयक आ गमना जिनसे सर्वनाश का खतरा पैदा कर दिया। विधेयक कई चरणों से होकर गुजरा और रंग में मुहराम बड़ता गया। इसके कारण बेवसी और भी कमयाजनक बन गयी।

यह एक चुनौती थी और इसके पहले कि और कोई पार्टी या व्यक्ति इस चुनौती को स्वीकार करता, गांधी जी इस रिक्तता को भरने के लिए आगे आ गये और वह भारत के नेता बन गये तथा वह भी इस कदर कि क्रान्तिकारियों ने, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ कठोर संघर्ष चला रहे थे, इस प्रयोग को मौका देने के इरादे से अपना आन्दोलन रोक दिया। हाँ, उनके बीच में जो कट्टरपंथी थे वे मन मार कर आन्दोलन से अलग बने रहे।

उन दिनों में एक छात्र था। जब कांग्रेस ने १९२१ में विद्यार्थियों का आह्वान किया तो मैं सक्रिय रूप से आन्दोलन में शरीक हो गया और मुझे तीन महीने की कैद की सजा मिली। जब मैं १९२२ में जेल से बाहर आया तब तक गांधी जी ने अपने घनिष्ठतम सहयोगियों से भी सलाह किये बिना गोरखपुर जिले के चोरी-चौरा की घटनाओं के वहाने आन्दोलन को रोक दिया था। चोरी-चौरा में जो कुछ हुआ था, संक्षेप में वह इस प्रकार था। गांव के निवासियों के एक शान्तिपूर्ण जुलूस को तितर-बितर हो जाने का आदेश दिया गया। जब उन लोगों ने तितर-बितर होने से इनकार कर दिया, तो पुलिस वालों ने गोली नहीं छोड़ी। इसके बाद सारे कांग्रेसी भागे और उन लोगों ने धाने में जा कर शरण ले ली और दरवाजे बंद कर लिये। भीड़ ने कांग्रेसियों से बाहर आने और अपनी करनी को देखने को कहा। कांग्रेसियों ने बेशक इनकार कर दिया। फिर भीड़ ने धाने में आग लगा दी और कोई बिस कांग्रेसी जिंदा

वही, पृ. २११।

बत दिये। जैसे ही गांधी जी ने इसके बारे में गुना, उन्होंने आन्दोलन को रोक दिया।

गांधी जी ने राजनीति को नीचे अयाम तक पहुंचाया था पर क्रान्ति की पहली शक्ति देसते ही उन्होंने बंदम पीछे हटा लिये। यह पुरु से ही क्रान्ति-कारी तरीकों के विरुद्ध थे। यह पहले ही अहिंसा और दूसरी चीजों से संबंधित करने मिदान्तों का एलान कर चुके थे। फिर भी यह एक पहली है कि बोअर युद्ध के समय उन्होंने अंग्रेजों का सैने समर्थन किया था। उन्होंने अंग्रेजों का समर्थन करने हुए एक बयान जारी किया था। इससे सारे स्वातंत्र्य योद्धाओं को, सान तीर पर उन आपरलंटासियों को, गहरा सदमा पहुंचा था, जो एतिहासी इंगलैंड के रिताफ विषम संघर्ष चला रहे थे। भारतीय क्रान्ति-कारी श्याम जी कृष्ण वर्मा ने, जो कुछ दिनों तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक रहे और प्रवासी के रूप में यूरोप में रह रहे थे, गांधी जी का प्रत्याख्यान किया और बोअरों का समर्थन करते हुए एक बयान जारी किया। पुनः प्रथम विश्व युद्ध में गांधी जी अहिंसा संबंधी अपनी सारी घोषणाओं के बावजूद अंग्रेजों के लिए जवानों की भर्ती करते रहे और अपनी सेवासों के लिए सग्ह कैसरे-हिन्द पदक (द्वितीय श्रेणी) दिया गया था। दूसरी ओर क्रान्तिकारियों ने प्रथम विश्व युद्ध को एक महान सुअवसर माना था और वे माम्राज्यवादी विश्व युद्ध को देशभक्तिपूर्ण स्वातंत्र्य युद्ध में परिवर्तित कर देना चाहते थे। इस प्रकार गांधी जी बार-बार अपने घोषित विश्वासों के विरुद्ध, आचरण करते रहे और दूसरी कसौटियों पर भी कसा जाये तो भी वह बार-बार गलत मुद्दों का समर्थन करते रहे। इन दो ऐतिहासिक अवसरों पर गांधी जी ने जो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में दखल दिया उससे भारतीयों का उपहास ही हुआ। उनका एक मात्र उद्देश्य था हमारे दासकों को खुप करना। इसलिए यह कोई विचित्र बात नहीं थी कि वैचारिक घरातल पर क्रान्ति-कारियों की गांधी जी से बार-बार सीधी टक्कर होती थी। गांधी जी ने अहिंसा को अंधपूजा बना रखा था और इससे सर्वथा खीभ कर मैं क्रान्तिकारी पार्टी में दाखिल हो गया। उसका एक छपा हुआ संविधान था जिसमें यह एलान किया गया था कि पार्टी का लक्ष्य है ऐसे समाज की स्थापना करना जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण असंभव बना दिया जायगा। मैं संविधान से बहुत प्रभावित हुआ था। हम लोगों के दिनों में उस संविधान तथा उत्तर भारत के ऐसे अन्य सारे पक्षों के लेखक सचीन्द्रनाथ सान्याल हुआ करते थे। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान और उसके पहले वे रासबिहारी बोस के दाहिने हाथ माने जाते थे। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान रासबिहारी बोस ने ही आजाद हिन्द फौज का संगठन किया था। सचीन्द्रनाथ सान्याल बनारस

पठ्यत्र केश में मुख्य अभियुक्त थे। उन्हें आजीवन कारावास का दंड दिया गया था और अंडमान भेज दिया गया था। प्रिटिन विजय के बाद आम माफी के दौरान ही उन्हें रिहाई मिली। फिर उन्होंने विवाह कर लिया और प्रकटतः गार्हस्थ्य जीवन बिताने लगे। किन्तु चोरी-चोरा के गोलमाल के बाद वह चुपचाप बैठे न रह सके। धिन्मिना, अगफाक, जोगेश चटर्जी और मुरेश चक्रवर्ती के साथ उन्होंने एक क्रान्तिकारी पार्टी संगठित की। उनका एक मुख्य अवदान यह था कि उन्होंने पार्टी का संविधान और उसके पत्र लिखे।

संविधान के कुछ समय बाद 'क्रान्तिकारी' शीर्षक एक चार पृष्ठों का पर्चा प्रकाशित किया गया और पेशावर में रंगून तक मारे भारत में गुप्त रूप से वितरित किया गया। इस व्यापक वितरण का उद्देश्य पुलिस और जनता पर यह असर डालना था कि पार्टी के पास बहुत बड़ा संगठन है। यह पर्चा बेहद सफल रहा। उसने बहुत बड़े जन समुदाय के सामने यह जाहिर कर दिया कि क्रान्तिकारी पार्टी के पास कुछ बहुत ही ऊंचे सामाजिक आदर्श हैं। वह अंधकार में टोह नहीं ले रही है बल्कि अपना लक्ष्य भली-भांति समझती है। पर्चा इस उक्ति के साथ शुरू होता था : "एक नये लक्ष्य के जन्म के लिए अव्यवस्था जरूरी है।" संविधान की दिशा का अनुसरण करते हुए उसमें सोवियत संघ तथा प्राचीन भारत के ऋषियों, दोनों, का ही उल्लेख था। घोषणापत्र में इस आरोप को अस्वीकार कर दिया गया था कि वह आतंकवादी पार्टी है। उसमें कहा गया था कि आतंकवाद में उसका विश्वास नहीं है, किन्तु यदि पार्टी मजबूर कर दी जाती है तो वह आतंकवाद के ऐसे नैराश्यजन्य अभियान का सूत्रपात कर सकती है जिसमें हर अंग्रेज और उसके भारतीय पिट्लू का जीवन असंभव बना दिया जायगा।

इसके बाद बंगला में एक पर्चा निकला जिसे अपने हस्ताक्षर के साथ सान्याल ने लिखा था। उसका शीर्षक था "देशवासीर प्रति निवेदन" अर्थात् देशवासियों से निवेदन। इन सबसे यह पता चलता है कि हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी धार्मिक राष्ट्रवाद की क्रान्तिकारी विचारधारा से स्वयं को अलग कर लेना चाहती थी किन्तु सान्याल जैसे विश्रुत और सक्षम नेता के अधीन भी वह ज्यादा प्रगति न कर सकी। साथ ही सान्याल इतने अंधे नहीं थे कि वे उन नये विचारों की संभावनाओं को न देख सकते जो रूस से आ रहे थे और तरुण क्रान्तिकारियों को अनुप्राणित कर रहे थे, किन्तु आत्मतुष्टि के साथ वे मुग्ध भाव से यह विश्वास कर लेना चाहते थे कि ये नये मूल्य और विचार तथा इनसे आगे भी ऋषियों के विचारों में समाहित हैं। वह मार्क्स और लेनिन के विवेकानन्द और अरविंद घोष के ज्यादा नजदीक थे।

गांधी जी आध्यात्मिक मूल्यों में आस्था रखते थे और यही सान्याल की भी स्तिपति थी किन्तु सिद्धान्त और व्यवहार के क्षेत्र में दोनों के बीच उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की दूरी थी। यह बात १९२५ में उनके बीच हुए पत्राचार से प्रकट हुई जब गांधी जी रिहार्ड के बाद यंग इंडिया का संपादन करने लगे थे। वस्तुतः पुनर्जीवित क्रान्तिकारी पार्टी को बाद के दिनों में लगातार दो मोर्चों पर लड़ाई लड़नी पड़ी। गांधी जी यह दिखाने के लिए कि क्रान्तिकारियों का और उनका लक्ष्य अलग-अलग है, समय-कुसमय उनकी भर्त्सना करते रहे। जब कभी सुल्लभ-सुल्ला कोई कार्रवाई कर दी जाती तो वे मौके का लाभ उठाकर उनकी कटु निन्दा करते। इस मामले में उनके सहयोगी उनसे सदा घृणित नहीं हो पाते थे और गोपी मोहन साहा को लेकर तो उनके और सी. आर. दास के बीच सुला विवाद छिड़ गया था। साहा ने एक यूरोपियन को गोली मार दी थी। वह कुख्यात पुलिस अधिकारी चार्ल्स टेगार्ट को गोली का निशाना बनाना चाहते थे पर उनकी जगह श्री डे को गोली मार दी। उन्होंने इस बात पर दुख प्रकट किया कि गलत आदमी को गोली मार दी गयी है, उन्हें क्षमा दे दी गयी। उन्होंने सजा का दिलेरी से सामना किया और हंसते हुए फाँसी के फाँदे पर झूल गये। सी. आर. दास ने साहा की बीरता की प्रशंसा की। यही नहीं, उन्होंने सिराजगंज बंगाल प्रांतीय सम्मेलन में साहा की प्रशंसा करते हुए एक प्रस्ताव स्वीकृत करा लिया। वास्तव में सी. आर. दास बंगाल में जनमत के बाहक बन गये। बंगाल ने अहिंसा को कभी गंभीरता से नहीं स्वीकार किया था, हालांकि असहयोग आन्दोलन के दौरान बंगाल से जितने लोग जेल गये थे उनके संभवतः सारे भारत से भी नहीं गये थे।

सिराजगंज प्रस्ताव गांधी जी की सहनशक्ति के बाहर हो गया। उन्होंने उनकी सुलेआम निन्दा की। कटु विवाद चल पड़ा। अन्ततः गांधी जी ने कांग्रेस के एक अखिल भारतीय सम्मेलन में उस प्रस्ताव को संशोधित करके एक अन्य प्रस्ताव पारित करा दिया और पुराने प्रस्ताव को दबा देने में सफल हो गये। पर संशोधन में भी एक हद तक प्रशंसा ही की गयी थी। दर बंगाल के नौजवान को अपने पक्ष में नहीं ला सका, हमने उनका रोप ही बढ़ा।

सान्याल ने गांधी जी को पहला पत्र मुमनाम लिखा। राजेन्द्र नाहिरो, जिन्हें बाद में फाँसी बना दिया गया, वह पत्र इलाहाबाद में लाये थे। मुझे वह पत्र पढ़ने को दिया गया था और उसे बाक से भेजने को कहा गया था। लिफाफे पर मेरी निताबट अंकित थी। इसके पीछे सान्याल दर विचार था कि अगर पुलिस जाब करे तो सान्याल फिरफार न होवे पावे। पार्टी जी ने उस पत्र को और ... को प्रकाशित कर दिया। सान्याल ने पत्र में अपना

असली नाम नहीं दिया था पर मुझे याद नहीं उस समय उन्होंने किस नाम का प्रयोग किया था। नीचे लेख का संपूर्ण पाठ पेश है जैसा कि वह १२ फरवरी १९२५ के पंग इंडिया में प्रकाशित हुआ था :

एक क्रांतिकारी की सफाई

एक पत्र लेखक ने, जिसने अपना नाम तो दिया है पता नहीं दिया, मुझे एक पत्र भेजा है जिसे वह "गुला पत्र" कहता है। बेलगांव कांग्रेस में अपने भाषण में मैंने क्रांतिकारी आन्दोलन के बारे में जो टिप्पणियाँ की थीं, वह पत्र उसके जवाब में है। पत्र देश प्रेम से, उत्साह और आत्मबलिदान की भावना से भरपूर है। साथ ही यह क्रांतिकारियों के प्रति मेरे द्वारा किये गये कथित अन्याय की भावना में भर कर लिखा गया है। इसलिए मैं नाम के बिना उस पत्र को सहर्ष छाप देता हूँ। लिखने वाले का पता नहीं दिया गया है। पत्र का अपरिवर्तित पूर्ण पाठ निम्नलिखित है :

"मैं आपको कुछ समय पहले आपके द्वारा दिये गये इस वचन की याद दिलाना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि जिस समय क्रांतिकारी लोग अपना मौन त्याग देंगे और भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर पुनः प्रवेश करेंगे, मैं राजनीतिक क्षेत्र से अलग हो जाऊंगा। अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का प्रयोग अब समाप्त हो चुका है। आप अपने प्रयोग के लिए पूरा एक साल चाहते थे, पर प्रयोग अगर पांच नहीं तो पूरे चार साल चल चुका है, और अभी भी क्या आप यह कहना चाहते हैं कि इस प्रयोग की पर्याप्त समय तक परीक्षा नहीं की जा सकी है ?

"आप वर्तमान युग की महानतम विभूतियों में से एक हैं और आपके प्रत्यक्ष मार्ग-निर्देशन और प्रेरणा की छाया में किसी न किसी कारण वस्तुतः देश के सर्वोत्तम लोगों ने आप का कार्यक्रम अपनाया। हजारों युवकों ने, जो हमारे देश के उत्कृष्टतम तरुण हैं, अपने समस्त उत्साह के साथ आपके पंथ को अपनाया। व्यवहारतः सम्पूर्ण राष्ट्र आपके आह्वान पर उठ खड़ा हुआ। हम निरापद भाव से यह कह सकते हैं कि यह प्रतिक्रिया अगर चमत्कारी नहीं तो अद्भुत अवश्य थी। आप इससे बढ़ कर और क्या चाह सकते थे? आपके अनुयायियों में बलिदान और ईमानदारी की कमी नहीं थी; स्वार्थी से स्वार्थी पेशेवर लोगों ने अपने पेशों को ठुकरा दिया, देश के युवकों ने अपने सारे ऐहिक अविष्य को तिलांजलि दे दी और आपके भंडे के नीचे आ खड़े हुए; सैकड़ों परिवार आर्थिक आय के अभाव में दरिद्र हो गये। धन की कमी नहीं थी। आप एक करोड़ रुपया चाहते थे लेकिन आपको इससे भी ज्यादा रुपये मिल

गये। वस्तुतः अगर मैं यह कहूँ कि आपके आह्वान पर जो अनुकूल प्रतिक्रिया हुई वह स्वयं आपकी आशा से अधिक थी तो शायद यह झूठ नहीं होगा। मैं यह कहने का साहम करता हूँ कि आशा ने अपनी योग्यता भर आपके नेतृत्व का अनुमरण किया, और मैं समझता हूँ कि कोई इस बात से इनकार भी नहीं कर सकता। इतने पर भी क्या आप यह कहना चाहते हैं कि इस प्रयोग की पर्याप्त समय तक परीक्षा नहीं की जा सकी ?

“वास्तव में आपके कार्यक्रम की असफलता के पीछे भारतीयों का कोई दोष नहीं है। आपने देश को सिर्फ एक कार्यक्रम दिया, आप राष्ट्र को विजय की अंतिम मंजिल तक नहीं ले जा सके। यह कहना कि अहिंसात्मक असहयोग इसलिए असफल हो गया कि लोग पर्याप्त रूप में अहिंसावादी नहीं थे, भविष्यद्रष्टा की तरह नहीं बल्कि वकील की तरह दलील देना है। लोग पिछले कुछ वर्षों में जितने अहिंसात्मक रहे हैं वे उसमें ज्यादा अहिंसात्मक नहीं रह सकते थे। मैं तो यह कहना चाहूँगा कि वे इस हद तक अहिंसात्मक थे कि उसमें बुजदिली की गंध आती थी। आप शायद यह कहेंगे कि आप यह अहिंसा—बुजदिलों की अहिंसा—नहीं चाहते थे। परन्तु आपके कार्यक्रम में ऐसा मुद्दा शामिल नहीं था जो बुजदिलों को बहादुरों में बदल सकता था जो बहादुरों के जत्थों में छिपे बुजदिलों को पहचान सकता और अंत में उन्हें निकाल बाहर कर सकता। इसमें जनता का कोई दोष नहीं था। और यह कहना कि अधिराज असहयोग कर्ता बुजदिल थे न कि बहादुर, जिम्मेदारियों से कतराना है। ऐसा कहना तो राष्ट्र के पुरस्कार का असम्मान करना है। भारतीय कायर नहीं हैं। उनकी वीरता की मंदा समार की थोड़-तम वीरों से तुलना की जा सकती है। इससे इनकार करना इतिहास से इनकार करना है। जब मैं भारतीयों की वीरता की बात करता हूँ तो मेरा तात्पर्य उसी वीरता से नहीं है जो गौरवगाली अतीत के इतिवृत्तों में जागृतमान है, बल्कि मैं उस वीरता को भी सम्मिलित कर रहा हूँ जो वर्तमान में अस्मि-व्यक्त हो रही है, क्योंकि भारत अभी भी मृत नहीं है।

“भारत को जरूरत है सच्चे नेता की, गुरु गोविंद सिंह या गुरु रामदास और शिराजी जैसे नेता की। भारत को जरूरत है एक इंसान की जो ऐसा उन्मुक्त आदर्श प्रदान कर सके जिसे न केवल भारत बल्कि सारी मानवता, अपने बहुसंख्य स्वभावों और क्षमताओं वाली मानवता स्वीकार करे।

“अतहुरोय आन्दोलन इसलिए नहीं असफल हो गया कि दब-उब इतिवृत्त भावनाओं का कभी-कभी विस्फोट हो जाता था बल्कि इसलिए कि आन्दोलन के पास उरमुक्त आदर्श का अभाव था। अतने विम आदर्श का उददेश दिना

यह भारतीय संस्कृति और परंपराओं के अनुरूप नहीं था। उसमें अनुकरण की गंध आती थी। आपका अहिंसा का दर्शन, कम से कम जिन दर्शन को आपने मनना की स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत किया, गिराजाजन्य दर्शन था। वह भारतीय ऋषियों की धरना की भावना नहीं थी, वह महान भारतीय योगियों की अहिंसा की भावना नहीं थी। वह तोलनबौध्द और बुद्ध धर्म का अपरिपक्व भौतिक नस्मिभ्रम था, पूर्व और पश्चिम का रसायनिक मिश्रण नहीं! आपने कांग्रेसों और सम्मेलनों की पश्चिमी पद्धति अपना ली और तोलसतोय की तरह देश, काल और पात्र पर ध्यान दिये बिना अहिंसा की भावना स्वीकार करने के लिए नगूण राष्ट्र को मना लेने की कोशिश की, किन्तु यह भारतीयों के लिए व्यक्तिगत साधना का विषय रहा है। और सबसे बड़ कर, आप भारत के अंतिम राजनीतिक लक्ष्य के बारे में अस्पष्ट रहे हैं और अभी भी हैं। यह दुःखद स्थिति है। स्वाधीनता संबंधी आपका विचार भारतीय आदर्शों से मेल नहीं खाता। भारत 'सर्वम् परवशम् दुःखम् सर्वात्मावशम् सुखम्' का समर्थक है और इस आदर्श को मानने वाला है कि व्यक्ति का अस्तित्व सर्वथा मानवता के लिए और मानवता के माध्यम से ईश्वर की उपासना के लिए है। 'जगतहिताय च कृष्णाय च।' भारत जिस अहिंसा का उपदेश देता है वह अहिंसा के लिए अहिंसा नहीं बल्कि मानवता की भलाई के लिए अहिंसा है, और जब मानवता की भलाई हिंसा और रक्तपात का तकाजा करेगी, भारत उसी तरह खून बहाने से नहीं हिचकेगा जैसे शल्य क्रिया के लिए खून बहाना आवश्यक हो जाता है। एक आदर्श भारतीय के लिए हिंसा अथवा अहिंसा का एक जैसा महत्व है, वशर्ते वह अंततोगत्वा मानव का हित करे! 'विनाशाय च दुष्कृतम्' व्यर्थ में नहीं कहा गया था।

"इसलिए मेरे विचार से आपने जो आदर्श राष्ट्र को दिया या जो अमली कार्यक्रम उसके सामने रखा वह न तो भारतीय संस्कृति के अनुरूप है और न एक राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में व्यवहारिक है।

"मैं यह सोचने की कल्पना ही नहीं कर सकता और न समझ ही सकता हूँ कि आप अभी भी इस बात की लेश मात्र आशा करने का साहस करते हैं कि इंग्लैंड अपनी स्वेच्छा से न्यायपूर्ण और उदार बन सकता है—वह इंग्लैंड 'जो जलियांवाला बाग कत्ले आम को आत्म रक्षा का जायज साधन समझता है', वह इंग्लैंड जिसने ओ'डायर-नायर मुकदमा चलाया और वर्वरता के हक में फैसला दिया। अगर ब्रिटिश सरकार के सद्बिबेक में आपका रंच मात्र विश्वास बाकी है तो आपके अनुसार किसी कार्यक्रम की कतई आवश्यकता कहां रह जाती है? अगर ब्रिटिश सरकार को होश में लाने के लिए किसी आन्दोलन की कोई आवश्यकता है तो ब्रिटिश सरकार की ईमानदारी और अच्छे इरादों की

काय क्यों करते हैं ? ऐसा लगना है कि आपके भीतर का भविष्यद्रष्टा सतम हो
 गया है और आप फिर कमजोर मुकदमे की सफाई देने में लगे बकील भर रह गये
 हैं; या आप महा मात्र अहंमत्पों के श्याख्याता—एक जयदंमन श्याख्याता—
 रहे हैं। पृथ्वी के अन्य स्वाधीन राष्ट्रों के साथ मैत्री या सप में आवद्ध भारतीय
 स्वतंत्र एक बीज है सपा साम्राज्यवादी ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वयंसा
 भारत विनष्टुत दूगरी बीज। ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर घने रहने की
 आसकी भावना आपके उन अनेक द्विपालकाकार मिष्यानुमानों की याद दिला
 देती है जिनके कारण आपने एक बहुमूल्य आदर्श को त्याग कर झूठी इष्ट-सिद्धि
 की वर्तमान आवश्यकताओं से समझौता कर लिया और इसी कारण आप देश
 के युवकों की कल्पना को अभिभूत नहीं कर सके—उन युवकों की कल्पनाओं
 को जो इच्छा के विपरीत कदम बडाने का साहस करते थे और आज भी करते
 हैं, हालांकि वे आपको बिना हिचक आधुनिक युग की महानतम विभूतियों में
 एक मानते हैं। ये हैं भारतीय क्रान्तिवारी। अब इन्होंने आगे शांत न रहने का
 फैसला कर लिया है और इसी कारण वे आपसे या तो राजनीतिक क्षेत्र से
 अलग हो जाने या राजनीतिक आन्दोलन को इस प्रकार निर्देशित करने की
 प्रार्थना करते हैं जिससे वह क्रान्तिकारी आन्दोलन में बाधक न होकर सहायक
 बने। उन लोगों ने देने दिनों तक आपके अनुरोधों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप
 में पालन करने के लिए ही अपनी गतिविधियां स्थगित रखी थी, बल्कि इससे
 बड़ कर भी बद्धत कुछ किया। उन्होंने यस्तुतः आपके द्वारा अपने कार्यक्रम को
 पूरा किये जाने में आपकी भरसक पूरी सहायता की। किन्तु अब प्रयोग समाप्त
 हो चुका है और इस कारण क्रान्तिकारी अब अपने वचन से बंधे नहीं रह गये हैं,
 या सच कहिये तो, उन्होंने केवल साल भर खामोश रहने का वचन दिया था,
 इसमें अधिक नहीं।

"साथ ही मैं यह लक्षित कर देना चाहता हू कि आपने ३६वीं कांग्रेस में
 अपने हान के अल्पस्थीय भाषण में क्रान्तिकारियों पर दोषारोपण करके कई
 मामलों में उन्हें गलत ढंग से पेश किया है। आपने कहा कि क्रान्तिकारी लोग
 भारत की प्रगति में बाधक हो रहे हैं। मैं नहीं जानता कि इस 'प्रगति' शब्द
 में आपका क्या तात्पर्य है। अगर आपका तात्पर्य राजनीतिक प्रगति से है तो
 क्या आप इस बात से इनकार कर सकते हैं कि भारत द्वारा पहले ही की जा
 गयी हर प्रगति, चाहे वह कितनी ही कम क्यों न हो, मुख्यतः क्रान्तिकारी
 पार्टी की कुर्बानियों और कोशिशों का ही परिणाम है ? क्या आप इस बात से
 इनकार कर सकते हैं कि अंग-अंग को क्रान्तिकारियों के प्रयत्न से ही रोक
 जा सका ? क्या आप इस बात में संदेह कर सकते हैं कि मॉर्ले-मिटो सुधार
 उक्त भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के परिणाम थे जो माड-फोर्ड सुधार के नाथे

जाने में एकमात्र नहीं तो मुख्य कारण अक्षय या ? अगर आप इन प्रश्नों का उत्तर 'हां' में दें तो मुझे ज्यादा आश्चर्य नहीं होगा। पर मैं आपको इस बात का आश्वासन दे सकता हूँ कि ब्रिटिश सरकार हम आन्दोलन की प्रच्युत गति को अनुभव करती है। स्वर्गीय गाँधी ने भी एक ऊंची हैसियत और ओहदे के भारतीय ने यह कहा था कि नवयुग भारतीय क्रान्तिकारियों की गतिविधियों के कारण ही मैंने भारत आने की पहलमन ली और अपनी जिन्दगी तक को जोशिम में डाला।

"अगर आपका अभिप्राय यह है कि मैं मुख्यतः अपनी प्रगति के सूचक कतई नहीं हूँ तो मैं कहने का साहस करता हूँ कि हम क्रान्तिकारी आन्दोलन ने भारत के नैतिक अभ्युत्थान की दिशा में जो प्रगति की है वह मामूली है। भारतीय लोग मृत्यु के भय से बेहद भयभीत रहने थे किन्तु इस क्रान्तिकारी पार्टी ने एक बार फिर भारतवासियों को यह अनुभव करा दिया कि किसी उदात्त लक्ष्य के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने में कितनी भयता और मुन्दरता है। क्रान्तिकारियों ने एक बार फिर दिगा दिया कि मृत्यु में एक किस्म का आकर्षण भी होता है और वह मदा खोफनाक भी नहीं होती। अपने विश्वानों और निष्ठाओं के लिए मरना, यह जानते हुए मरना कि हम प्रकार मर कर ईश्वर और राष्ट्र की सेवा की जा रही है, ऐसे ध्येय के लिए जिसे कोई ईमानदारी में न्याय संगत और उचित मानता हो, मृत्यु को अंगीकार करना या अपने जीवन को खतर में डालना जबकि मृत्यु की हर संभावना मौजूद हो—क्या यह नैतिक प्रगति नहीं है ?

"विपत्ति और क्षणिक असफलताओं के बावजूद अपने प्रिय आदर्श पर डटे रहना—क्षणिक उत्तेजनाओं से और एक मोहक व्यक्तित्व के उदात्त प्रतीक होने वाले आदर्शों में न वह जाना, कड़ी मशक्कत वाले दीर्घकालीन कारावास से भयभीत न होना, वर्षों स्वयं अपने प्रति सच्चा बने रहना—क्या यह उद्देश्य-निष्ठता, यह चरित्रबल भारत द्वारा की गयी सच्ची नैतिक प्रगति का सूचक नहीं है ? और क्या यह क्रान्तिकारी आदर्श का प्रकट परिणाम नहीं है ?

"आपने क्रान्तिकारियों से कहा है, 'तुम चाहो तो स्वयं अपनी जिन्दगियों की परवाह नहीं कर सकते हो, पर तुम अपने उन देशवासियों की अवहेलना करने का साहस नहीं कर सकते जिन्हें शहीद की मौत मरने की कतई आकांक्षा नहीं।' पर दुख की बात है कि क्रान्तिकारी लोग इस बात का अर्थ समझ सकने में असमर्थ हैं। क्या आपके कहने का यह तात्पर्य है कि चोरी-चौरा दार हैं ? क्या आपके कहने का यह तात्पर्य है कि जलियांवाला बाग और गुजरातवाला में निर्दोष लोगों पर बमबारी और उनकी हत्या के जिम्मेदार हम क्रान्तिकारी लोग हैं ? क्या क्रान्तिकारियों ने पिछले बीस वर्षों के अपने

संघर्ष के दौरान, अतीत में या वर्तमान में, कभी भूलों मर रहे लाखों लोगों से क्रान्तिकारी संघर्ष में भाग लेने को कहा ? क्रान्तिकारी लोग शायद जन मनो-विज्ञान को अधिकांश मौजूदा नेताओं से बेहतर समझते हैं। और इसी कारण वे आम जनता को तब तक आगे नहीं लाना चाहते थे, जब तक उन्हें स्वयं अपनी शक्ति का पक्का विश्वास न हो जाये। वे सदा यह मानते रहे हैं कि उत्तर भारत की जनता किसी आपात के लिए तैयार है, और उनका यह सोचना भी ठीक रहा है कि उत्तर भारत की जनता ऊंचे दर्जे के सघन विस्फोटक द्रव्य जैसी है जिसे असावधानी से बरतना खतरनाक है। आम जनता की भावनाओं को आपने और आपके सहयोगियों ने गलत समझा और उन्हें सत्याग्रह आन्दोलन में घसीट लिया—ऐसे लोगों को जो हजारों अतर्बाह्य उत्पीड़नों के नीचे कराह रहे थे, जहाँ शोध की विजली छिपी हुई थी, और आपको इसका हरजाना भरना पड़ा। किन्तु क्या आप एक भी ऐसी विमान दे सकते हैं जहाँ क्रान्तिकारियों ने अनिच्छुक आत्माओं को मौत की घाटी में घसीट लिया हो ?

“किन्तु अगर आपका तात्पर्य यह है कि क्रान्तिकारियों की गतिविधियों के कारण निर्दोष लोगों को सताया जा रहा है, कैद किया जा रहा है और मौत के घाट उतारा जा रहा है, तो मैं बिना हिचक और ईमानदारी से स्वीकार करना चाहूंगा कि जहाँ तक मेरी जानकारी है, एक भी ऐसी व्यक्ति को फांसी नहीं दी गयी जो क्रान्तिकारी कार्यकलाप का दोषी न रहा हो; जहाँ तक कैद और संप्रणाला की बातें हैं मैं यह कह सकता हूँ कि बहुत से निर्दोष लोगों को सम्पुनः सताया गया और संप्रणाला दी गयी। किन्तु क्या विदेशी सरकार द्वारा किये गये जुल्मों के लिए एक क्रान्तिकारी पार्टी को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है ? विदेशी सरकार राष्ट्र में पुरुषत्व की भी अभिव्यक्ति को, वह जिस रूप में भी हो, कुचल देने पर तुली है; पर इन तरह कुचलने में बहुत समझ है कि सरकार बहुत बड़ी गलतियाँ कर जाये और बहादुरों के गाथ-नाथ बुजदिलों को भी उत्पीड़न, कैद और संप्रणाला का शिकार बनाये; पर क्या बुजदिलों की पातनाओं के लिए बहादुर लोगों के शिर दोष मढ़ा जा सकता है ? माथ ही इन पातनाओं को सहीद की मौत नहीं कहा जा सकता।

“अंत में, आपने ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति के बारे में जो कहा है उनके बारे में कुछ कहना चाहूंगा। क्रान्तिकारियों ने आपने कहा है, किन्हीं आप अपदस्थ करना चाहते हैं, वे आपने उगाश अक्षी तरह हथियारों से सैन हैं और वही उगाश अक्षी तरह संगठित हैं। किन्तु क्या यह सैन की बात नहीं कि मुझे भर अंग्रेज भारतीय जनता की मुक्त सहस्रति से नहीं बल्कि उगाश बन से भारत पर शासन करने से सम्बंध है ? अगर अंग्रेज हथियारों से अक्षी

तरह सेम और संगठित हो सकते है तो भारतवासी क्यों उनसे भी ज्यादा अच्छी तरह अभियानों से सेम और संगठित नहीं हो सकते—वे भारतवासी जो आध्यात्मिकता के उच्च शिक्षणों में अभिभूत हैं ? भारतवासी उसी तरह प्रज्ञान हैं जैसे अंग्रेज लोग। तब मरती पर ऐसी कौन-सी बात है जो भारतीयों को प्रेरणा अमृतताय बना देती है कि वे यह सोचें कि वे कभी अपने अंग्रेज स्वामियों से ज्यादा अच्छी तरह संगठित नहीं हो सकते ? आप किस दलील और तथ्यगत तर्क में उन संभावनाओं को गणत सिद्ध कर सकते हैं जिनमें क्रान्तिकारियों को अपार विश्वास है ? और इस असाहायता और निराशा के बीच में पैदा होने वाली अहिंसा की भावना कभी शक्तिशाली जनों की अहिंसा, भारतीय ऋषियों की अहिंसा नहीं हो सकती। यह तालिस तमस है।

“महात्मा जी, अगर मैं आपके दर्शन और सिद्धान्तों की आलोचना में कठोरता दिया गया हूँ तो मुझे क्षमा कीजिए। आपने क्रान्तिकारियों की निहायत निर्ममता से आलोचना की है और यहां तक बढ़ गये हैं कि उन्हें देश का दुश्मन करार दे दिया है—केवल इस कारण कि वे आपके विचारों और तरीकों से मतभेद रखते हैं। आप सहनशीलता का उपदेश देते हैं लेकिन क्रान्तिकारियों की अपनी आलोचना में आपने उग्र असहिष्णुता दिखायी है। क्रान्तिकारियों ने मातृभूमि की सेवा करने के लिए अपना सर्वस्व दांव पर लगा दिया है, और अगर आप उनकी मदद नहीं कर सकते तो कम से कम उनके प्रति असहिष्णु तो न बनिये।”

* * *

मैंने कभी किसी से इस बात का वचन नहीं दिया कि कब और कैसे देश के राजनीतिक जीवन से सन्यास ले लेना चाहिए। पर मैंने यह अवश्य कहा था और इस समय फिर दुहराता हूँ कि अगर मैं यह देखूंगा कि भारत मेरे संदेश को नहीं ग्रहण कर रहा है तथा भारत खूनी क्रान्ति चाहता है तो मैं निश्चय ही राजनीति से सन्यास ले लूंगा। उस आन्दोलन में मेरा कोई हिस्सा नहीं होना चाहिए क्योंकि मैं भारत के लिए, या विश्व के लिए, दोनों एक ही बात है—उसकी उपयोगिता में विश्वास नहीं करता।

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि असहयोग के आह्वान पर आश्चर्यजनक अनुकूल प्रतिक्रिया हुई थी, किन्तु मेरा यह भी निश्चित विश्वास है कि सफलता असहयोग की मात्रा के अनुपात से अधिक थी। जनता की आश्चर्यजनक जागृति इस तथ्य का स्थायी प्रमाण है।

मेरा यह भी निश्चित विश्वास है कि देश ने अत्यधिक आत्मनियंत्रण का परिचय दिया है; पर मैं अपने इस मंतव्य को भी दुहराना चाहूंगा कि असहयोग का पालन अपेक्षित स्तर से बहुत कम हुआ।

मेरा यह विचार नहीं कि "मेरा दर्शन" तोम्गापोर और बुद्ध के दर्शन का ब्रेनली चीन है। मैं नहीं जानता कि गिवा इसके कि यह क्यों है जिसे मैं मरत मानता हूँ। यह मुझे बत प्रदान करता है। तोम्गापोर और बुद्ध का मैं बहुत खुशी हूँ। किन्तु फिर भी मैं किसी न किसी तरह यह बताना करता हूँ कि "मेरा दर्शन" चीता को गिराओ के सचने अर्थ का प्रतिनिधित्व करता है। हो सकता है, मैं बिनाकुल मरत होऊँ। इस तरह की घननी मुझे या और किसी को कोई सुखमान नहीं पहुँचा सकती। कारण यह कि मैं जिम बात का समर्थन करता हूँ वह बिगुल सत्य है तो मेरी प्रेरणा का सोन कोई महत्व नहीं रखता।

मैं जिम दर्शन का प्रतिनिधित्व करता हूँ उसे उगके अपने गुण-दोष के आधार पर परमा जाने दोषिए। मेरा यह विचार है कि संसार सदासत्र बदावनों में ऊँच भुवा है। मेरा यह भी विचार है कि दूसरे देशों के लिए बुद्ध भी मरत क्यों न हो, भारत में सूनी प्रान्ति मफल नहीं होगी। आम जनता उसमें हिम्मा नहीं लेगी। ऐसा आन्दोलन जनता का कोई भना नहीं कर सकता जिसे जनता स्वयं सक्रिय हिम्मा न ले। एक सफल सूनी प्रान्ति का एक मात्र अर्थ होगा आम जनता के लिए और अधिक तबाही। कारण यह कि वह अभी भी उसके लिए विदेशी शासन होगा। जिस अहिंसा कि मैं शिक्षा देता हूँ वह मरतनम की सक्रिय अहिंसा है। किन्तु उसमें निर्वलतम भी और अधिक निर्जल हुए बिना भाग ले सकते हैं। वे उसमें शामिल होकर मरतनर हों होंगे। आम जनता आज पहले की तुलना में वहीं अधिक माहगी बन चुकी है। अहिंसात्मक सचपं में अनिवार्यतः सामूहिक पैमाने पर निर्माण सन्निविष्ट होना है। इसलिए वह तमस या अंधकार या जड़ता की ओर नहीं ले जा सकता। इसका अर्थ है राष्ट्रीय जीवन में गति का समावेश। यह आन्दोलन अभी भी मोन और प्रायः अगोचर किन्तु सुनिश्चित रूप में जारी है।

मैं प्रान्तिकारियों की वीरता और बलिदान से इनकार नहीं करता। किन्तु बुरे ध्येय के लिए वीरता और बलिदान भव्य शक्ति का अपव्यय है और बुरे ध्येय के लिए दुरुपयोग में लायी गयी वीरता और बलिदान की चमक दमक अच्छे ध्येय की ओर से ध्यान हटा कर उसे मुकसान पहुँचाती है।

मैं वीर और आत्मबलिदानी प्रान्तिकारी के सामने तन कर खड़े होने में सज्जन नहीं होता, क्योंकि मैं भी उसके मुकाबले में उतनी ही मात्रा में एक अहिंसात्मक व्यक्ति की वीरता और बलिदान पेश करने की शमता रखता हूँ जिम पर निर्दोष लोगों के खून के दाग नहीं हैं। एक निर्दोष व्यक्ति की कुर्बानी दूसरों को मारने के दौरान मारे जाने वाले लाखों लोगों की कुर्बानी से लाखों गुना अधिक शक्तिशाली होती है। निर्दोष व्यक्ति का सहपं बलिदान ईश्वर या

मनुष्य द्वारा आज तक कल्पित किये जा सके उदात्ततम अत्याचार का सबसे नास्तिकार्थी प्रयास है।

मेरे स्वराज की राह की नींव पड़ी आवाजों की ओर क्रान्तिकारियों का न्याय आकलित करना चाहता हूँ—भयों का भूया प्रसार, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच घुट और अविश्वास नहीं पर अमानवीय प्रतिबन्ध। मैं उनसे अनुरोध करता हूँ कि निर्माण के इस कार्य में वे मेरे साथ अपना उचित हिस्सा ग्रहण करें। संभव है, इसमें बहुत भयवत्ता न हो। किन्तु एसी कारण बड़े-बड़े क्रान्तिकारियों के लिए विनया संभव है। उतने नगुण वीरतापूर्ण वयं, मोन और अटन प्रयास तथा आत्मनिर्भरता ही आवश्यकता है। अधीरता क्रान्तिकारी की दृष्टि को धुसला कर देगी और उसे गुमराह कर देगी। भूखों मर रही जनता के बीच न्यायव्यरण करके धीरे-धीरे तथा गौरवहीन तरीके से भूखों मरना मिथ्या गौरववश फाँसी के तराँ पर झूल जाने से सर्वत्र अधिक वीरतापूर्ण होता है।

हर आलोचना असहिष्णुता नहीं होती। मैंने क्रान्तिकारियों की आलोचना इसलिए की कि मेरे हृदय में उनके लिए सहानुभूति है। उन्हें मुझे गलत मानने का उसी तरह अधिकार है जैसे मुझे उन्हें गलत मानने का।

“गुले पत्र” में अन्य बातें भी उठायी गयी हैं। पर मैंने उन्हें छोड़ दिया है क्योंकि मैं समझता हूँ कि पाठक आसानी से उनका जवाब दे सकते हैं और उनमें से कोई भी मूल प्रश्न को स्पर्श नहीं करता।

मो. क. गांधी

उन्हीं दिनों शचींद्रनाथ सान्याल गिरफ्तार कर लिये गये थे जिससे विवाद आगे नहीं चल सका। मैंने कुछ समय तक इंतजार किया और फिर बीड़ा अपने ऊपर उठा लिया। मैंने एक पत्र लिखा और उसे उसी तरह हस्ताक्षरित किया—“एक क्रान्तिकारी”। वह ६ अप्रैल १९२५ को यंग इंडिया में गांधी जी के उत्तर के साथ प्रकाशित हुआ।

मेरे मित्र क्रान्तिकारी

जिन क्रान्तिकारी को मैंने कुछ समय पहले उत्तर देने की कोशिश की थी उन्होंने फिर अपना आरोप दुहराया है और उन्हें दिये गये मेरे पहले के उत्तरों से पैदा होने वाले कुछ प्रश्नों का उत्तर देने की ललकारा है। मैं प्रसन्नता से उत्तर देता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि मेरी तरह वह भी प्रकाश की खोज में हैं और भली प्रकार तथा बिना ज्यादा आवेग के दलीलें पेश करते हैं। मैं वचन देता हूँ कि जब तक वे शान्त चित्त से तर्क करेंगे, मैं वहस जारी रखूँगा। उनका पहला प्रश्न है :

“क्या आप सचमुच यह विश्वास करते हैं कि भारत के क्रांतिकारी स्वराजियों, वामपंथियों और राष्ट्रवादियों से कम बलिदानी, कम उदात्त या अपने देश के कम प्रेमी हैं ? क्या मैं आपको जनता के सामने कुछ ऐसे स्वराजियों, वामपंथियों या राष्ट्रवादियों के नाम पेश करने की चुनौती दे सकता हूँ जिन्होंने मातृभूमि के लिए शहीद की मृत्यु अंगीकार की हो ? क्या आप इतना साहस, नहीं, इतनी उद्दंडता दिखा सकते हैं कि ऐतिहासिक तथ्यों को देखते हुए इस बात से इनकार कर दें कि क्रांतिकारियों ने अपने देश के लिए भारत की सेवा करने का दावा करने वाली किसी अन्य पार्टी से अधिक कुर्बानियाँ की हैं ? आप दूसरी पार्टियों के साथ समझौते करने को तैयार हैं, जबकि हमारी पार्टी से आप घृणा करते हैं और हमारी भावनाओं को विप वताते हैं। क्या आप किसी अन्य पार्टी की भावनाओं के लिए, जो ईश्वर और मनुष्य की निगाहों में हमसे निश्चय ही घटिया है, असहनशीलता सूचक इसी शब्द का प्रयोग करते कांप नहीं जायेंगे ? उन्हें गुमराह देशभक्त या जहरीला सर्प पुकारने से आप क्यों कतरा जाते हैं ?

*

*

*

मैं भारत के क्रांतिकारियों को अन्य लोगों से कम बलिदानी, कम उदात्त या अपने देश का कम प्रेमी नहीं मानता। पर मैं सम्मान के साथ यह दावा करता हूँ कि उनका बलिदान, उनकी उदात्तता और उनका देश प्रेम न केवल निष्कल है बल्कि अज्ञानपूर्ण और पथभ्रष्ट होने के कारण देश को किसी भी दूसरी गतिविधि से ज्यादा क्षति पहुंचाते हैं और पहुंचाया है। कारण यह कि क्रांतिकारियों ने देश की प्रगति में बाधा डाली है। अपने विरोधियों के जीवन के प्रति उनकी अंध उदासीनता के कारण ऐसा दमन हुआ है जिसने उन्हें, जो उनकी लड़ाई में भाग नहीं लेते, पहले की तुलना में ज्यादा कायर बना दिया है। दमन उन्हीं के लिए लाभकारी है जो उसके लिए तत्पर हों। आम जनता क्रांतिकारी गतिविधियों के क्रम में होने वाले दमन का सामना करने और अनजान में उसी सरकार के हाथ मजबूत करने के लिए तैयार नहीं है जिसे क्रांतिकारी लोग विनष्ट करने का दावा करते हैं। यह मेरा निश्चित विश्वास है कि अगर चोरी-चोरा की हत्याएँ न हुई होती तो बारदोली में जिस आन्दोलन का प्रयास किया गया था उसके परिणामस्वरूप स्वराज की स्थापना हो गयी होती। इसलिए क्या इसमें कोई आश्चर्य की बात है अगर मैं ऐसा मत रखते हुए क्रांतिकारियों को पथभ्रष्ट और इसी कारण सत्तरनाक देशभक्त कहता हूँ ? अगर मेरा घेडा अपने अज्ञान और अंध प्रेम के कारण अपने जीवन को खतरे में डाल कर उन विचित्रताओं में लड़ जाने जिनकी विचित्रता पद्धति मुझे मुश्किल पहुंचाती है पर जिसमें मैं अपने भीतर इच्छा क्षति का

गोपना की कभी के कारण सब नती मन्त्राओं में उनके पत्रभ्रष्ट और सवर-
नाक परिवारक मानूंगा। परन्तु यह होगा कि मैं एक भले घेरे में हाथ जो बैठूंगा
और उन निहितार्थों का भी कोष भाजन मानूंगा जो घेरे के कार्यकलाप में मेरी
मिन्दीभगा का संदेश करने अपनी सामाजिक निहितार्थ का मिलनिका बनाने
आने के निवा मुझे संकेत करने की भी कोशिश कर सकते हैं। अगर घेरे ने
निहितार्थों को उनही मन्त्री समझाने की, या निहितार्थ स्वीकार कर लेने में
मेरी कमजोरी मुझे समझाने की कोशिश की होगी तो संभन या कि निहितार्थों
ने अपना नरीका मुझ पर निवा होना या मेने निहितार्थ अस्वीकार कर दी होगी
या कम से कम निहितार्थों का कोष भाजन बनने में यत्न निकलता। मैं अन्य
पाठियों के साथ कुछ समझाने अवश्य करता हूँ क्योंकि, हालांकि मैं उनसे मत-
भेद रखता हूँ, फिर भी मैं उनही गतिविधियों को उतना सकारात्मक दृष्टि से
हानिकर और गतरनाक नहीं मानता जितना क्रान्तिकारियों की गतिविधियों
को मानता हूँ। मैंने क्रान्तिकारियों को "जद्दरीका सर्व" कभी नहीं कहा।
किन्तु मैं उनकी कुर्वानियों पर भावोन्मत्त हो जाने से इनकार करता हूँ, चाहे वे
कितनी भी महान क्यों न हों, ठीक उगी तरह जैसे मैंने अपने पत्रभ्रष्ट घेरे की
कुर्वानी का जो कल्पित दृष्टांत दिया है, उसकी कुर्वानी की सराहना करने से
इनकार करूंगा। मेरा निश्चित विश्वास है कि जो लोग क्रान्तिकारियों की
कुर्वानियों के लिए अप्रकट या प्रकट रूप में उनकी प्रशंसा करते हैं, वे उन्हें
तथा अपने अभीप्सित ध्येय को क्षति पहुंचाते हैं। पत्र-लेखक ने मुझसे उन गैर
क्रान्तिकारी देशभक्तों का उदाहरण देने को कहा है जिन्होंने देश के लिए अपने
प्राण दिये हों। इन टिप्पणियों को लिखते हुए मुझे दो समग्र उदाहरण स्मरण
हो रहे हैं। गोखले और तिलक अपने देश के लिए ही मरे। उन लोगों ने अपने
स्वास्थ्य की प्रायः विलकुल परवाह किये बिना कार्य किया और समय से बहुत
पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। फ्रांसी के तख्ते पर झूलकर मृत्यु प्राप्त करना
अनिवार्यतः आकर्षक नहीं है, अक्सर ऐसी मृत्यु मलेरियाग्रस्त इलाकों में सख्त
मेहनत और मशकत की जिन्दगी से ज्यादा आसान होती है। मैं इस बात से
काफी संतुष्ट हूँ कि स्वराजियों और दूसरों के बीच ऐसे लोग हैं जिन्हें अगर
यह विश्वास हो जाये कि उनकी मृत्यु से देश को मुक्ति मिल जायेगी तो वे
अपने जीवन का किसी भी दिन उत्सर्ग कर देंगे। मैं अपने क्रान्तिकारी मित्र
को यह सुभाव देना चाहता हूँ कि फ्रांसी के तख्ते पर मृत्यु से देश की सेवा
तभी होती है जब कि फ्रांसी चढ़ने वाला "वेदाग निरीह व्यक्ति" हो।

*

*

*

"भारत का रास्ता यूरोप का रास्ता नहीं है।' क्या आप सचमुच इस बात
में विश्वास करते हैं? क्या आप के कहने का यह तात्पर्य है कि यूरोप के संपर्क

में आने के पहले भारत में युद्ध तथा सेना के संगठन का अस्तित्व नहीं था ? अच्छे लक्ष्य के लिए युद्ध—क्या यह भारत की चेतना के विरुद्ध है ? “विनाशाय च दुष्कृतम्”—क्या यूरोप से आयात किया गया सिद्धान्त है ? मान लिया कि यह योरप से आयात किया गया है, तो क्या आप इतने हठधर्मी हैं कि योरप में जो कुछ अच्छा हो उसे भी नहीं ग्रहण करेंगे ? क्या आप यह मानते हैं कि योरप में कोई अच्छाई संभव नहीं ? अगर अच्छे लक्ष्य के लिए पड़यंत्र, रक्तपात और कुर्बानी भारत के लिए बुरे हैं तो क्या योरप के लिए भी बुरे नहीं होंगे ?”

* * *

मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि योरप के संपर्क में आने के पहले भारत में सेनाएं, युद्ध आदि होते थे। पर मैं यह भी कहता हूँ कि यह भारतीय जीवन का सामान्य क्रम कभी नहीं रहा। योरप के विपरीत यहाँ आम जनता युद्धवादी भावनाओं से अलूती थी। मैं इन पृष्ठों में पहले ही कह चुका हूँ कि मैं गीता का उपासक हूँ। पद्म-लेखक ने उक्त प्रसिद्ध श्लोक गीता से उद्धृत किया है। किन्तु इस श्लोक का आम तौर से जो अर्थ किया जाता है, मैं उससे बिल्कुल भिन्न अर्थ करता हूँ। मैं उसे भौतिक युद्ध का वर्णन या उपदेश नहीं मानता। और हर हालत में उक्त श्लोक के अनुसार दुष्कृत्य करने वालों का विनाश करने के लिए सर्वज्ञ ईश्वर पृथ्वी पर अवतार लेता है। मुझे क्षमा किया जाय यदि मैं हर क्रान्तिकारी को सर्वज्ञ ईश्वर या अवतार मानने में इन्कार कर दूँ। मैं हर योरोपीय चीज की निन्दा नहीं करता। किन्तु मैं हर देश और हर काल में अच्छे उद्देश्य के लिए भी गुप्त हत्याओं और नाजायज तरीकों की निन्दा करता हूँ।

* * *

“भारत कलकत्ता या बंबई नहीं है।” क्या मैं आपके महारमा-पद के समस्त पूर्ण आदर के साथ यह निवेदन कर सकता हूँ कि पान्थिकारी लोग भारत का भूगोल इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि वे इस भौगोलिक तथ्य को आसानी से जान सकते हैं। हम इस तथ्य को उसी तरह मानने से तैयार हैं हम यह मानने हैं कि छोड़े से चरखा बालने वाले लोग ही सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र नहीं हैं। हम गाँवों में प्रवेश कर रहे हैं और हम हर वही मचल हुए हैं। क्या आप यह मान सकते हैं कि सिवाजी, प्रताप और रणजीत की ये सतानें हमारी भावनाओं को और किसी चीज से ज्यादा तत्परता तथा गहराई से समझती हैं ? क्या आप यह नहीं मानते कि किसी पैसाबिक और अप्रम सक्ति के गिताक निष्क्रियता और दार्शनिक बाहरता के प्रथमन की अपेक्षा सत्य और पूर्व निश्चित प्रतिरोध किसी भी राष्ट्र के लिए स्वात तौर से भारत के लिए बड़ा अधिक

बेहतर नहीं है ? मेरा मतलब उस भावना में है जो आपके अहिंसा के सिद्धान्त के उद्देश्य के कारण, या यह कहना उचित नहीं होगा कि इन सिद्धांत की सतत व्याख्या और दुरुपयोग के कारण संपूर्ण भारत में व्याप्त हो गयी है। अहिंसा विधेय और अमर्याद का सिद्धान्त नहीं है, वह सत्य का सिद्धान्त है। हम भारत में ऐसे लोगों को पैदा करना चाहते हैं जो मौन में पॉथ्रि नहीं हटें— भले ही यह किसी भी समय और किसी भी रूप में आये—और जो मुक्त करने हुए भूदण्ड का चरण करें। हम इसी भावना के साथ गांधी में प्रवेश कर रहे हैं। हम परिपक्वों और जिज्ञाशीलों के लिए वोट यशुवने के लिए गांधी में प्रवेश नहीं कर रहे हैं बल्कि हमारा उद्देश्य है देश के लिए ऐसे सभी प्राप्त करना जो प्रायः दे सकें और कोई मूल पत्थर तक यह न बता सकें कि उस बेचारे का शत्रु कौन है। क्या आप मैत्रिणी की भांति यह मानते हैं कि यहीनों के रून से पोषित होने पर अन्तर-मन्द परिपक्व होते हैं ?

कलकत्ते और रेलवे में दूर के गांधी के चीन भौगोलिक अंतर को जानना ही काफी नहीं है। अगर क्रान्तिकारियों को इनके बीच का आंगिक अंतर मालूम होता तो वे मेरी तरह चरखा कातने वाले बन गये होते। मैं अंगीकार करता हूँ कि हमारे पास जो थोड़े से चरखा कातने वाले हैं, वे ही सम्पूर्ण भारत नहीं हैं। लेकिन मैं यह दावा करता हूँ कि सारे भारत से पहले की तरह चरखा कातना संभव है और जहाँ तक सहानुभूति का सवाल है, आज भी आन्दोलन के साथ लागों भारतवासियों की सहानुभूति है लेकिन वे कहीं क्रान्तिकारियों का साथ नहीं देंगे। मैं इस दावे का खंडन करता हूँ कि क्रान्तिकारियों को ग्रामवासियों के बीच सफलता मिल रही है। पर अगर उन्हें सफलता मिल रही है तो मुझे इसका दुख है। मैं उनके प्रयासों को विफल करने में कुछ भी नहीं उठा रखूंगा। किसी पैशाचिक दक्ति के खिलाफ सचास्त्र पडयंत्र शैतान के मुकाबले शैतान को खड़ा करने जैसा है। किन्तु चूंकि एक शैतान ही मेरे लिए कई के बराबर है, इसलिए मैं उनकी संख्या नहीं बढ़ाना चाहूंगा। मेरी गतिविधि प्रयासहीन है या सप्रयास यह देखना अभी बाकी है। साथ ही, अगर जहाँ एक गज सूत काता जा रहा था वहाँ अगर दो गज काता जाने लगा तो यह अच्छा ही है। कायरता से मैं नफरत करता हूँ, चाहे वह दार्शनिक हो या अन्य प्रकार की। और अगर मुझे यह समझाया जा सके कि क्रान्तिकारी कार्यकलाप से कायरता दूर हुई है तो इस तरीके के प्रति मेरी नफरत बहुत कम हो जायेगी, सिद्धान्त के आधार पर मैं उसका चाहे कितना ही विरोध करता हूँ। पर जो भाग-दौड़ करता है यह देख सकता है कि अहिंसात्मक आन्दोलन के कारण ग्रामवासियों में वह साहस आ गया है जिससे अभी चन्द सालों पहले तक उनका कोई परिचय ही नहीं था। मैं यह

स्वीकार करता हूँ कि अहिंसा मूलतः सचत का अस्त है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि अचरमर मुजदितों को भ्रम से अहिंसा समझ लिया जाता है।

मेरे दोस्त जब यह कहते हैं कि क्रान्तिकारी वह है जो "सुकृत करता है और मृत्यु का धरण करता है।" दगो बात पर तो मैं आपत्ति करता हूँ। मेरे विचार से ये दुष्कृत्य करते हैं और मृत्यु का धरण करते हैं। मैं कतई किसी भी परिस्थिति में हत्या या बध या आतङ्कवाद को अच्छा नहीं मानता। मैं यह मानता हूँ कि गहोदों के खून से पोषित होने पर विचार जल्द परिपक्व होते हैं। पर जो व्यक्ति सेवा के दौरान जगली बुखार से धीरे-धीरे मरता है, वह भी उतने ही निश्चित रूप से खून यहाता है जैसे फासी के तख्ते पर भूजने वाला। और अगर फांसी के तख्ते पर भूलने वाला किसी दूसरे के खून का शोषी है तो उसके पास ऐसे विचार ही नहीं जिनके परिपक्व होने की यत्ना हो।



क्रान्तिकारियों के विरुद्ध आपका एक एतराज यह है कि उनका आन्दोलन जन आन्दोलन नहीं है, फलतः हम जिस क्रान्ति के लिए तैयार हो रहे हैं उससे आम जनता को बहुत ही कम लाभ होगा। यह परोक्ष रूप में यह कहना है कि हमने सबसे ज्यादा लाभ हम लोगों को होगा। क्या दरअसल यही आपके कहने का तात्पर्य है? क्या आप यह मानते हैं कि वे लोग जो अपने देश के लिए गद्दा प्राण देने को तत्पर हैं, स्वदेश के वे पागल प्रेमी, मेरा मतलब भारत के क्रान्तिकारियों से है जो निष्काम कर्म की भावना से अनुप्राणित हैं, मातृभूमि के साथ विश्वासघात करेंगे और इस जन्म के लिए—इस सुच्छ जीवन के लिए—विशेष सुख-सुविधायें हासिल करेंगे? यह सही है कि अभी फौरन हम जनता को संघर्ष में नहीं खींचेंगे, क्योंकि हम जानते हैं कि वह कमजोर है किन्तु जब तैयारी पूरी हो जायेगी तब हम उन्हें भी मैदान में उतारेंगे। हम वर्तमान भारत की मनोदशा को पूरी तरह जानने का दावा करते हैं क्योंकि हमें अपने बन्धुओं की स्वयं अपने साथ लौलने-परखने का रोज मौका मिलता है। हम जानते हैं कि भारत की आम जनता आखिरकार भारतीय है, वह स्वतः निर्बल नहीं है, किन्तु कुशल नेताओं की कमी है; इसलिए जब हम सतत प्रचार और शिक्षा द्वारा अपेक्षित संख्या में नेता पैदा कर लेंगे और हथियार दबदूटे कर लेंगे तो हम यह सिद्ध करने के लिए कि जनता शिवाजी, रणजीत, प्रताप और गोविंद सिंह की संतान है, उसे खुले मैदान में उतारने में या जरूरत हुई तो घसीट घाने में नहीं हिचकेंगे। इसके अलावा हम लगातार यह प्रतिपादित करते रहे हैं कि आम जनता क्रान्ति के लिए नहीं है बल्कि क्रान्ति

आम जनता के लिए है। क्या यह उस समय में आपके पूर्वपद को दूर करने के लिए पर्याप्त है ?”

मैं न यह कहना चाहूँ और न यह मेरा अभिप्राय है कि अगर अखण्ड को लाभ नहीं होना तो क्रान्तिकारी को लाभ पहुँचना है। उनके विपरीत, आम अर्थ में क्रान्तिकारी को सभी लाभ नहीं होना। यदि क्रान्तिकारी लोग जनता को अपनी ओर आकर्षित करने में, न सिर्फ “सलीकने” में, सफल हो जायें तो वे श्रेयों में किमानिमाना अभिमान सर्वथा अनावश्यक है। “शिवाजी, रणजीत, प्रताप और गोविंद सिंह की मशानों” की शान करना बड़ा गुनद और उत्तेजनात्मक मान्यता होना है। पर क्या यह भय है? क्या हम सभी उन अर्थ में इन धीरो की मशान है जिन अर्थ में पत्र-लेखक समझता है? हम उनके देशवासी हैं किन्तु उनकी मशानों में निहित धर्म के लोग हैं। हम भविष्य में जाति का मूलोच्छेद करने में सफल हो सकते हैं पर आज यह वस्तुकार है और इस कारण लेखक द्वारा किया गया दावा मेरी राय में सिद्ध नहीं किया जा सकता।

*

*

*

“अंत में मैं आपसे इन प्रश्नों के उत्तर मांगता हूँ : क्या गुरु गोविंद सिंह इस कारण पथभ्रष्ट देशभक्त थे कि वह एक उदात्त ध्येय के लिए युद्ध में विश्वास करते थे? आप वाशिगटन, गैरीवाल्डी और लेनिन के द्वारे में क्या कहना चाहेंगे? आप कमाल पाशा और डे वेलेरा के द्वारे में क्या सोचते हैं? क्या आप शिवाजी और प्रताप को ऐसा नेकनियत या बलिदानी चिकित्सक कहेंगे जिन्होंने ऐसे समय संखिया का प्रयोग किया जबकि उन्हें ताजा द्राक्षारस देना चाहिए था? क्या आप कृष्ण को इसलिए यूरोपीयकृत कहेंगे कि वह दुष्कृतों के विनाश में विश्वास करते थे?”

यह एक दुर्दृष्ट या वेढंगा सवाल है। पर मैं इससे पलायन नहीं कहूँगा। एक तो गुरु गोविंद सिंह और दूसरे जिनके नामों का उल्लेख किया गया है, गुरु हत्या में विश्वास नहीं करते थे। दूसरे, ये देशभक्त अपने कार्य और अपने लोगों को जानते थे, जबकि आधुनिक भारतीय क्रान्तिकारी अपना कार्य नहीं जानता। ऊपर गिनाये गये देशभक्तों को जैसे सहायक और जैसा वातावरण प्राप्त थे, वैसे सहायक और वैसे वातावरण हमारे क्रान्तिकारी को सुलभ नहीं हैं। मेरे विचार हालांकि मेरे जीवन सिद्धान्त से उद्भूत हैं, फिर भी मैंने उन्हें इस आधार पर राष्ट्र के सामने नहीं पेश किया है। क्रान्तिकारियों से मेरा विरोध मात्र कार्यसाधकता पर आधारित है। इसलिए उनकी गतिविधियों की

तुलना गुरु गोविंद सिंह या बागिगटन या गैरीवालडी या लेनिन से करना
 निहायत भ्रमोत्पादक और खतरनाक होगा। किन्तु अहिंसा के सिद्धान्त की
 बगौटी पर मुझे यह महान में कोई शिक्का नहीं है कि यह बहुत हद तक संभव
 है कि अगर मैं उनका समसापत्निक होता और उनके देशों में रहता तो मैं
उनमें से हर एक की मफल और वीर मोझा किन्तु पथभ्रष्ट देशभक्त ही कहता।
 पर आज जैसा युद्ध है, मुझे उनके बारे में निर्णय नहीं देना चाहिए। जहां तक
 बोरों के कृत्यों के विस्तृत व्योरो का सवाल है, मैं इतिहास पर अविश्वास
 करता हूं। मैं इतिहास के मोटे-मोटे तथ्यों को स्वीकार करता हूं और अपने
 व्याकरण के लिए स्वयं सबूत निकालता हूं। जहां तक मोटे-मोटे तथ्य जीवन
 के उच्चतम निपटों का प्रत्याख्यान करते हैं, मैं उसे दुहराना नहीं चाहता।
 किन्तु मैं इतिहास से प्राप्त अन्य सामग्री के आधार पर व्यक्तियों के बारे में
 निर्णय करने से सर्वथा इनकार करता हूं। मृत व्यक्तियों की अच्छाई के सिवा
और कुछ नहीं कहना चाहिए। कमाल पासा और डे वैंलेरा के बारे में भी मैं
 निर्णय नहीं दे सकता। पर मैं सरासर अहिंसा में विश्वास करता हूं और जहां
 तक युद्ध में उनके विश्वास की बात है, वे मेरे जीवन के पथ-प्रदर्शक नहीं बन
 सकते। कृष्ण में मैं सापद पत्र-लेखक से ज्यादा विश्वास करता हूं। किन्तु मेरे
कृष्ण ब्रह्मांड के स्वामी, हम सभी के सप्टा, रक्षक और संहारक हैं। वे संहार
 कर सकते हैं, इसलिए कि सृष्टि करते हैं। पर मुझे अपने मित्र के साथ दार्शनिक
 या धार्मिक तर्कों में नहीं उलझना चाहिए। मुझमें अपने जीवन के दर्शन
 की शिक्षा देने की योग्यता नहीं है। मुझमें तो केवल उस दर्शन पर अमल
 करने की योग्यता है, जिसमें मैं विश्वास करता हूं। मैं मन, वचन और कर्म
 से सम्पूर्णतः अहिंसात्मक बनने के लिए उत्कण्ठित एक निरीह अपरंपरित आरम्भ
हूँ किन्तु जिस आदर्श को मैं सत्य मानता हूँ उस तक पहुँचने में असफल रहा हूँ।
 मैं स्वीकार करता हूँ और अपने क्रांतिकारी मित्रों को आश्वासन देता हूँ कि यह
 एक कष्टदायी चढाई है, पर इसका कष्ट मेरे लिए एक प्रत्यक्ष सुख है। ऊपर
 की ओर हर कदम के साथ मैं सबलतर हूँ और अगले कदम के लिए सक्षम
 महसूस करता हूँ। पर वह सारा कष्ट और सुख मेरे लिए है। क्रांतिकारी
 लोग मेरे सम्पूर्ण दर्शन को ठुकरा देने को आजाद हैं। उनके सामने मैं उसी
 तरह एक सहकर्मियों की हैसियत से अपना अनुभव पेश करता हूँ जैसे मैंने अभी
 बन्धुओं और अन्य अनेक मित्रों के सामने सफलता के साथ पेश किया है। वे
 मुस्तफा कमाल पासा और सम्भवतः डे वैंलेरा और लेनिन के कार्य का पूरे
 हृदय से गुणगान कर सकते हैं और करते हैं। किन्तु वे मेरे साथ यह महसूस
 करते हैं कि भारत तुर्की या आयरलैंड या रूस की तरह नहीं है और एक ऐसे
देश में जो इतना विशाल है, इतनी तुरी तरह विभाजित है और जिसकी जनता

इसकी महत्ता तक इतिहास में इसी है और इसकी आवश्यकता के साथ आतंकवाद है, अगर महा मंत्री को हम देश के सोशलिस्ट धारण में हर हालत में, क्रान्तिकारी कार्यवाही आवश्यक है।

मैंने एक और पत्र लिखा। यह भी उसी तरह ७ मई १९७५ को संघ इंडिया में प्रकाशित हुआ। पत्र लिख रहा मैं संघ इंडिया में दया या वैश्व ही नीचे दिया जा रहा है :

फिर वही प्रसंग

मेरे प्रान्तिकारी मित्र ने फिर आरोप लगाया है। लेकिन मैं उन्हें यह बता दूँ कि उन्होंने इस पत्र के लिखने में पहले जैसे जैसे ता परिणाम नहीं दिया है। उन्होंने विचारधीन पत्र में बहुत-सी अप्रासंगिक सामग्री का समावेश कर दिया है और छिन्ने-टाने तरीके से तर्क किया है। जहाँ तक मैं देखा सकता हूँ, उनके सारे तर्क समान ही चुके हैं और उनके पाग कहने लगे कुछ भी नया नहीं रह गया है। किन्तु अगर वह फिर लिखते हैं तो मेरी गलाह है कि वह अपना पत्र ज्यादा सावधानी से लिन और मूलतः अपने विचारों को पेश करें। इस बार उनके लिए यह कार्य मुझे करना पड़ गया है। लेकिन चूँकि वह रोसनी खोज रहे हैं, मैं जो इसलिए कुछ लिख रहा हूँ उसे उन्हें सावधानी से पढ़ना चाहिए, और फिर अपने विचारों को स्पष्ट करना चाहिए तथा उन्हें साफ-साफ और संक्षेप में लिपिबद्ध करना चाहिए। अगर उन्हें मुझसे सिर्फ प्रश्न पूछने हैं तो मुझे विश्वास दिलाने के लिए तर्क किये बिना उन्हें उन प्रश्नों को दर्ज कर डालना चाहिए। मैं क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में सब कुछ जानने का दंभ नहीं भरता, पर चूँकि मुझे बहुत अधिक सोचना, निरीक्षण करना और लिखना पड़ा है, इसलिए कोई नयी बात बहुत कम वे मुझसे कह सकते हैं। इसलिए मैं जहाँ खुला दिमाग रखने का वचन देता हूँ, वहीं मैं उनसे निवेदन करता हूँ कि कृपा कर वे राष्ट्र के एक व्यस्त सेवक और क्रान्तिकारियों के एक सच्चे मित्र को ऐसा बहुत कुछ पढ़ने के श्रम से बचायें जिसे पढ़ने की उसे जरूरत नहीं। मैं इस क्रान्तिकारी से संपर्क बनाये रखने को उत्सुक हूँ और यह काम मैं इन्हीं स्तंभों के जरिये कर सकता हूँ। उनके प्रति मेरे हृदय में सहायु-भूति है क्योंकि उनके और मेरे बीच एक चीज समान है—कष्ट सहने की योग्यता। किन्तु चूँकि मैं विनम्रता के साथ यह विश्वास करता हूँ कि वे गलत और गुमराह हैं, इसलिए मैं चाहता हूँ कि उन्हें गलती से हटा सकूँ या इस प्रक्रिया में मैं खुद अपनी गलती से हट सकूँ।

मेरे क्रान्तिकारी मित्र का पहला सवाल है :

“क्रान्तिकारियों ने देश की प्रगति में बाधा पहुंचायी है।’ क्या आप

करने हो विचार से मजबूत रहनी है क्योंकि भावने बस भय के गिलसिते में
 गिरा था : विभाजन के बाद लोगों को लगा कि याचना का सम्बन्ध शक्ति में
 होना चाहिए, और उन्हें बच्युत करने में सहाय होना चाहिए । इस भावना
 को विभाजन का मुकुर नतीजा माना जाना चाहिए । ... जो कुछ लोग परस्पर
 बान्धने हुए और गुप्त रूप में रहने से बह गुप्त कर बहा और गिरा जाते लगत ।
 ... लोग, मुवा और कृष्ण, बिना अंग्रेज का चेहरा देखते ही नौ-नौ-ग्यारह हो
 जाते थे; अब लोग इनमें मजबूत नहीं होते । अब वे फगाद से, या कँद हो जाने
 में भी नहीं डरते । भारत की 'कुछ धेष्टतम संनानों' आज निर्वासित हैं ।
 विभाजन के बाद, या यह कहना सही होगा कि जनता की बेचैनी की अभि-
 व्यक्ति के रूप में जो आन्दोलन हुआ, यह क्रान्तिकारी आन्दोलन था, और
 अपने भारत की त्रिन धेष्टतम संनानों की बात की है उनमें से अधिकांश
 शक्तिशाली या अर्धशक्तिशाली ही हैं । यह कहे जाते हैं कि वे सथापयित अन्न
 और दिग्गमिन लोग भारत की मुजदिसी को दूर करने में नहीं तो कम से कम
 उन्हें घटाने में सफल हो सके ? क्या आप इनके अतहिष्णु हैं कि क्रान्तिकारियों
 को इसलिए अन्न बहें क्योंकि वे आपके अहिंसा के अजूबे मतवाद को नहीं
 गमक सक्ते ?"

इंडियन होम रुल में, जिससे संसद ने उद्धरण दिया है, व्यक्त किये गये
 विचार और मेरे द्वारा व्यक्त किये गये विचारों में कोई अंतर नहीं है । जिन
 लोगों ने विभाजन आन्दोलन का नेतृत्व किया, चाहे वे जो कुछ और जो कोई
 हों, उन्होंने अंग्रेजों के भय को निरसदेह दूर किया । वह देश की निश्चित सेवा
 थी । किन्तु यह जरूरी नहीं कि जो बहादुर और आत्मबलिदानी है वह हत्या
 करे । अच्छा हो, मेरे मित्र स्मरण करें कि जैसा कि इंडियन होम रुल पुस्तिका
 में ही कहा गया है, वह क्रान्तिकारियों की दलीलों और तरीकों के जवाब में
 ही गिरा गयी थी । क्रान्तिकारियों में आत्मबलिदान और बहादुरी की जो
 भावना पायी जाती है उसे पूरा का पूरा बरकरार रखते हुए उसमें क्रान्ति-
 कारियों के लिए कुछ ऐसी बीज प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी थी जो, उनके
 पास जो कुछ है, उससे कहीं ऊँची है । मैं क्रान्तिकारियों को मात्र इसलिए अन्न
 नहीं कहता कि वे मेरी पद्धति को नहीं समझते या सराहते, बल्कि इसलिए भी
 कि मुझे प्रतीत होता है कि वे मुझ कला की भी नहीं समझते । मेरे मित्र ने
 जिन घोटाओं को उद्धृत किया है उनमें से हरेक अपनी कला और अपने लोगों
 को जानता था ।

दूसरा सवाल है :

"क्या टेरेन्स मैकस्विनी एक 'बेदाग निर्बंध व्यक्ति' था जब वह ७१ दिनों
 की भूख-हड़ताल के बाद मर गया ? कृपया याद रखिये कि वह अंत तक पदबंधन,

रक्तता और आत्मत्याग का हिमायती था, और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक प्रसिपत्स ओक फोडन में अन्त में अपने मृत निवासों पर कागज रखा। अगर आप मैक-गिनी को 'विशाल निर्दोष व्यक्ति' ठहराने है तो क्या आप यही पर गोपीमोहन माहा के लिए प्रयोग करने की तैयार नहीं होंगे ?'

मुझे हुए के साथ यह कहना पड़ना है कि मैं मैकगिनी के जीवन के बारे में इतना पढ़ी नहीं जानता कि उसके बारे में कोई राय दे सकूँ। किन्तु अगर यह "पद्म्यन्त, रक्तपात और आत्मत्याग" का हिमायती था तो उसकी पद्धति पर यही आपनिवासों लोगों को इन पृष्ठों में पेश की गयी है। मैंने कभी उसे "विशाल निर्दोष व्यक्ति" नहीं माना। जब उसके अनशन का एलान किया गया था तब मैंने अपनी विनम्र राय दी थी कि मेरे दृष्टिकोण ने यह गलती थी। मैं हर अनशन को उचित नहीं मानता।

बीसरा मवाल है :

"आप वहाँ में विख्यात करते हैं। इसलिए यह स्वतः सिद्ध है कि आप क्षत्रियों की वही उपयोगिता मानते हैं जो किसी भी अन्य वर्ण की। क्रान्ति-कारी लोग भारत के इस निःक्षत्रिय युग में क्षत्रिय होने का एलान करते हैं। 'धृताव् प्रायते इति क्षत्रिय'। मैं भारत की इस स्थिति को सर्वाधिक धर मानता हूँ जिससे भारत का कभी साविका पड़ा हो, दूसरे शब्दों में यही समय है जब भारत में क्षत्रियों की सर्वोपरि आवश्यकता है। हिन्दू स्मृतिकारों के शिरोमणि मनु ने क्षत्रिय के लिए चार नीतियाँ निर्धारित की हैं : 'साम, दाम्, दंड, भेद'। इस प्रसंग में मैं विवेकानन्द का एक अंश उद्धृत कर रहा हूँ जो मेरे विचार से आपके लिए मामले को पूरी तरह समझने में बहुत सहायक होगा।

"सारे बड़े उपदेशकों ने सिखाया है "दुष्कृत का प्रतिरोध मत करो," उन्होंने सिखाया है कि अप्रतिरोध उच्चतम नैतिक आदर्श है। हम सभी जानते हैं कि यदि संसार की मौजूदा हालत में लोग इस सिद्धान्त का निर्वाह करें तो संपूर्ण सामाजिक ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो जायगा, समाज विनष्ट हो जायगा, उग्र और शठ लोग हमारी संपत्ति पर अधिकार जमा लेंगे, और संभव है हमारी जानें भी ले लें। इस प्रकार के एक दिन के भी अप्रतिरोध से देश रसातल में चला जायेगा। मैं जानता हूँ कि इस वेदव परिस्थिति में आप क्या करेंगे, आप इसकी भिन्न प्रकार से व्याख्या करने की कोशिश करेंगे, पर आप पायेंगे कि उन्होंने इस तरह के मिथ्यार्थ के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी है क्योंकि वे फौरन आगे कहते हैं, 'शायद आप में से कुछ ने भगवद्गीता पढ़ी हो और शायद पश्चिमी देशों में आप में से अनेक को प्रथम अध्याय पर आश्चर्य हुआ हो जिसमें श्रीकृष्ण अर्जुन को इसलिए पाखंडी और कायर कहते हैं कि वे लड़ने या प्रतिरोध करने से इनकार करते हैं, क्योंकि उनके शत्रु उनके

मित्र और संबंधी लोग ही थे—उनके इनकार का आधार यह दलील है कि अप्रतिरोध प्रेम का उच्चतम आदर्श है। हम सभी के सीखने के लिए एक बहुत बड़ा सबक है और वह यह कि हर चीज के दोनों चरम बिंदु एक जैसे होते हैं; चरम घनात्मक और चरम शून्यात्मक सदा एक जैसे होते हैं; जब प्रकाश के कम्प अत्यधिक मन्द होते हैं तो हम उन्हें नहीं देख पाते, न ही हम उन्हें तब देख पाते हैं जब वे अत्यधिक तीव्र होते हैं; यही बात ध्वनि के साथ है, जब स्वरमान अत्यन्त निम्न होता है तो हमें सुनायी नहीं पड़ता, और जब अत्यन्त उच्च होता है तब भी हमें नहीं सुनायी पड़ता। प्रतिरोध और अप्रतिरोध के बीच के अंतर की धारणा भी ऐसी ही है।... हमें पहले यह समझने की आवश्यकता बरतनी चाहिए कि हममें प्रतिरोध की शक्ति है या नहीं। तब शक्ति होने पर अगर हम उसका परित्याग करते हैं और प्रतिरोध नहीं करते तो हम प्रेम का भव्य कर्म करते हैं; किन्तु अगर हम प्रतिरोध नहीं कर सकते और फिर भी साथ ही यह दिखाना और स्वयं विश्वास करना चाहते हैं कि हम उच्चतम प्रेम के ध्येयों से प्रेरित हैं तो नैतिक दृष्टि से जो अच्छा है, हम उसके ठीक विपरीत कर्म करते हैं। अर्जुन अपने सम्मुख प्रचंड सैन्य-विन्यास देख कर कायर हो गये, उनके "प्रेम" ने अपने देश और राजा के प्रति उनके कर्तव्य को विस्मृत करा दिया। इसी कारण श्रीकृष्ण ने उनसे कहा कि वे पातंडी हैं : "तुम युद्धमार्ग की तरह बात करते हो, किन्तु तुम्हारे कृत्य यह दिखाते हैं कि तुम कायर हो, इसलिए उठ खड़े हो और लड़ो।"

— मैं चन्द्र प्रसन्न उठाने के सिवा और कुछ नहीं कहूंगा। क्या आप यह सोचते हैं कि आपके तन-मन से अहिंसारमक शिष्य इस विदेशी नौकरसाही सरकार का भौतिक शक्ति से प्रतिरोध कर सकते हैं? यदि हाँ, तो किस आधार पर; अगर नहीं, तो आपकी अहिंसा सबल का अस्त्र कैसे रह जातो है? कृपया इन प्रश्नों का जवाब सर्वथा अवृक रूप में दीजिए, जिससे कोई भी उसके अलग-अलग अर्थ न लगा सके।

— इसके साथ-साथ मैं आपसे निम्नलिखित प्रश्न पूछूंगा जो सीधे आपके चकव्य से पैदा होते हैं। आपके स्वराज्य में सैनिकों के लिए कोई स्थान है? क्या आपकी स्वराज्य सरकार सेनाएं रखेगी? यदि रखेगी तो क्या वे सड़ेंगी—मेरा मतलब, आवश्यकता पड़ने पर भौतिक शक्ति का इस्तेमाल करेंगी—या वे अपने विरोधियों के समक्ष सत्याग्रह करेंगी?"

मेरे जीवन दर्शन में सैनिकों के लिए स्थान है। किन्तु उसकी परिभाषा मैंने यों ही की है। शक्ति बड़ है जो युद्ध अर्थात् मारने से भाग नहीं खाता होता। जैसे-जैसे संसार प्रगति करता है, वे ही शक्ति के अर्थ रहन कर लेते हैं। मनु और अन्य स्मृतिकारों ने आचरण के शासन मिथ्या नहीं समझा

किये थे। उन्होंने जीवन में कुछ भाग्यवश मृत प्रतिपादित कर दिये और कर्मोपदेश नहीं मूर्खों के अनुसार अपने मृत के लिए आचरण के निगम प्रस्तुत किये। भारत की आजादी पाने के लिए तो दूर रहा, मैं स्वर्ग में भी प्रवेश पाने के लिए मृत और स्वर्ग के तरीकों को अपनाने में असमर्थ हूँ। क्योंकि स्वर्ग, स्वर्ग नहीं रह जायेगा और आजादी, आजादी नहीं रह जायेगी, अगर इनमें से एक को भी ऐसे तरीकों से प्राप्त किया जाना है।

मैंने उस उद्धरण को जान कर नहीं देखा है जो विवेकानन्द का बताया गया है। इसमें न यह राजगी है और न यह मंथिलता जो इस महापुरुष की रचनाओं में दिग्गम में आती है। किन्तु चाहे यह उनकी रचनाओं में से हो या नहीं, यह मुझे संतुष्ट नहीं करता। अगर बहुत बड़ी संख्या में लोग अप्रतिरोध के सिद्धान्त का निर्वहण करें तो संसार की मौजूदा हालत ऐसी नहीं रह जाय। जिन व्यक्तियों ने इसको निभाया है उन्होंने कुछ भी गंवाया नहीं है। हिंस्र और शठ लोगों ने उन्हें मार नहीं डाला है। उल्टे उन लोगों ने अहिंसात्मक और भले लोगों की उपस्थिति में अपनी हिंसा और शठता का परित्याग कर दिया है।

मैं गीता का जो अर्थ करता हूँ, उसे मैं पहले ही कह चुका हूँ। यह सर्व-असत् के बीच शाश्वत द्वन्द्व का निरूपण करती है। और जब सदसत् के बीच विभाजक रेखा इतनी सूक्ष्म हो और जब सही चुनाव इतना कठिन हो तो अर्जुन की तरह अक्सर कौन हिम्मत हार नहीं जाता ?

वहरहाल, मैं इस कथन का हृदय से अनुमोदन करता हूँ कि सचमुच अहिंसात्मक वही है जो प्रहार की क्षमता रखते हुए भी अहिंसात्मक बना रहे। इसीलिए मैं यह दावा करता हूँ कि मेरा शिष्य (मेरा एक ही शिष्य है और वह मैं स्वयं हूँ) प्रहार करने की क्षमता रखता है—हां, उदासीन और शायद प्रभावहीन तरीके से, यह मैं स्वीकार करता हूँ; किन्तु वह ऐसा करने की इच्छा नहीं रखता। मुझे अपने जीवन में अपने विरोधियों को गोली से उड़ा देने और शहादत का सेहरा पहन सकने के कई मौके मिले पर मुझे उनमें से किसी को गोली मारने की इच्छा ही नहीं थी। क्योंकि मैं यह नहीं चाहता था कि वे मुझे गोली मारें, चाहे मेरे तरीकों को वे जितना भी नापसन्द क्यों न करते हों। मैं चाहता था कि वे मुझे मेरी गलती पर यकीन दिला दें जैसे मैं उनकी गलतियों पर यकीन दिलाने की कोशिश कर रहा था। “दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करो, जैसा बर्ताव तुम चाहोगे कि दूसरे तुम्हारे साथ करें।”

दुख की बात है कि मेरे आज के स्वराज में सैनिकों के लिए स्थान है। मेरे क्रान्तिकारी मित्र को मालूम होना चाहिए कि एक पूरी जनता के निहत्थे बना दिये जाने और फलतः उनका तेज-हरण कर लिये जाने को मैंने अंग्रेजों का

सबसे जघन्य अपराध कहा है। मुझमें देश को सार्वभौम अहिंसा का उपदेश देने की क्षमता नहीं है। इसलिए मैं जो अहिंसा का उपदेश देता हूँ वह सही अर्थों में हमारी आजादी के प्राप्त किये जाने के उद्देश्य तक, और इसलिए शायद अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अहिंसात्मक तरीके से नियमन का प्रतिपादन करने तक, सीमित है। किन्तु मेरी अक्षमता को गलती से अहिंसा के सिद्धान्त की अक्षमता नहीं मान लिया जाना चाहिए। मैं इसे अपनी प्रज्ञा से इसकी पूरी भास्वरता के साथ देखता हूँ। मेरा हृदय इसे ग्रहण करता है। किन्तु मेरी सिद्धियाँ अभी इतनी नहीं हैं कि मैं प्रभविष्णु तरीके से सार्वभौम अहिंसा का प्रतिपादन कर सकूँ। मैं इस महान दायित्व के लिए पर्याप्त प्रौढ़ नहीं हूँ। अभी मुझमें क्रोध है। अभी मुझमें द्वैतभाव है। मैं अपने भावावेगों का नियमन कर सकता हूँ, मैं उन्हें वशीभूत रखता हूँ, किन्तु इसके पहले कि मैं प्रभविष्णु तरीके से सार्वभौम अहिंसा का प्रतिपादन कर सकूँ, मुझे भावावेगों से पूर्णतः मुक्त हो जाना चाहिए। मुझे पाप करने में सर्वथा अक्षम होना चाहिए। इन क्रान्तिकारियों को मेरे साथ और मेरे लिए यह प्रार्थना करनी चाहिए कि मैं शीघ्र ऐसा बन सकूँ। किन्तु इसी बीच उन्हें मेरे साथ इस दिशा में ऐसा एक कदम उठाना चाहिए जिसे मैं दिन की रोशनी की तरह साफ देखता हूँ अर्थात् सत्ता के साथ अहिंसात्मक साधनों से भारत की आजादी प्राप्त करने का कदम। और फिर स्वराज में आपके ओर मेरे पास ऐसा अनुशासित, बुद्धिमान, और शिक्षित पुलिस बल होगा जो भीतर व्यवस्था रखेगा तथा बाहर के हमलावरों से लड़ेगा—अगर उस समय तक मैं या और कोई इन दोनों में निबटने का कोई बेहतर रास्ता नहीं दिखता देता है।

इन पत्रों ने उन दिनों जबदस्त हलचल मचा दी क्योंकि ये सारे महत्वपूर्ण समाचारपत्रों में उद्धृत किये गये। अब राष्ट्रीय आन्दोलन में निश्चित रूप से दो शिविर हो चुके थे। क्रान्तिकारी लोग आरम्भ से ही गांधी जी को सहन करने तथा उनकी गतिविधियों को अन्य गतिविधियों का पूरक तक मानने को तैयार थे, किन्तु गांधी जी, और कुछ हद तक जवाहरलाल नेहरू, हालांकि यह आयरलैंड के डे वेंनेरा और तुर्की के कमाल पाशा की सराहना और प्रशंसा करते थे, क्रान्तिकारियों का सफाया कर देना चाहते थे। नेहरू जी ने यूरोप में निर्वासन में रहने वाले पुराने क्रान्तिकारियों को बुरा-भला कहने के लिए अपनी आत्मरूपा का एक पूरा अध्याय अलग कर दिया है।

ऊपर की दस्तावेजों के अलावा मान्याम द्वारा क्रान्तिकारियों के लिए तैयार की गयी पुस्तकों की आदर्श सूची से क्रान्तिकारियों की विचारधारा की भाँकी पायी जा सकती थी। इस सूची में डे वेंनेरा, गीरीबास्की, मंजिनो

की ओर उनमें सर्वप्रथम पुस्तकें शामिल थीं। कुछ पुस्तकें हम में संघटित थीं। मुझे नाम नहीं मालूम है। मैंने हिन्दी में इसकी राष्ट्रशान्ति नाम की एक पुस्तक और अन्य कई पुस्तकें पढ़ी थीं। उन दिनों मैंने किरकुप रचित एक पुस्तक हिन्दूओं और सोशलिज्म पढ़ी थी। मेरा ख्याल है कि उन दिनों समाजवाद के इतिहास पर यही पुस्तक भारत में उपलब्ध थी। इनके अलावा विभिन्न देशभक्तिपूर्ण विषयों पर संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी में अनेक पुस्तकें थीं।

सैशानिक समाजवाद के विचार भारतीय नौजवानों के मस्तिष्क को तेजी के साथ अभिभूत कर रहे थे। किन्तु इसी शान्ति का इतिहास पढ़ते समय हम लोग बोल्लेविकों और नरोदवादियों के मतसंकलनाप के बीच कोई प्रभेद नहीं करते थे। हमारे लिए लेनिन उगी तरह एक अखंड देशभक्त थे जैसे गैरीवाल्डी या सन यात-सेन। मैंने माक्स के बारे में पढ़ा और मुना या, पर उन दिनों उनकी भूमिका को पूरी तरह समझने में असमर्थ रहा। यह कमोवेदा एक अत्यंत सम्य सज्जन प्रतीत होते थे, सर्वद्वारा के प्रति जिन्की प्रवृत्ति परोपकार की भावना से भरी थी। उनकी दाढ़ी और उनकी आंखें हमारे भीतर अत्यधिक आदर भाव उपजाती थीं, किन्तु यह आदर भाव उस आदर भाव से ज्यादा भिन्न नहीं था जो हम लोग, उदाहरणार्थ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बारे में रखते थे।

यह देखते हुए कि १९२२-२५ में हम भारतीयों के लिए बसली लड़ाई अंग्रेजों के खिलाफ थी, यह कोई विचित्र बात नहीं थी। हमें देशभक्तिपूर्ण लड़ाई जीतनी थी, हां इसके साथ-साथ हम समाजवाद के लिए लड़ सकते थे या कम से कम लड़ने की तैयारी कर सकते थे। वह एक अलग सवाल है। गांधी जी और तथाकथित गांधीवाद के खिलाफ लड़ाई हमारे कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण मुद्दा थी। इसे समाजवाद के लिए हमारी लड़ाई का एक मुद्दा होना है। चालीस साल पहले गांधीवाद के खिलाफ लड़ना कुछ कठिन था, किन्तु उत्तराधिकारियों और भ्रष्ट शिष्यों की कृपा से अब यह दुष्कर नहीं। यह भ्रष्टाचार गांधीवाद में सन्निहित है; किन्तु वह एक अलग विषय है जिसका अलग से विवेचन किया जा सकता है।

भारत की राष्ट्रभाषा और गांधी जी

सुरेन्द्र गोपाल

मोलाना आजाद ने एक बार कहा था : "गांधी जी ने भारत को कई चीजें दीं, लेकिन शायद बहुत ही कम लोग यह महसूस करते हैं कि उनसे जो सबसे बड़ी चीजें मिली हैं उनमें से एक है राष्ट्रभाषा का विचार।" मोलाना आजाद एक हद तक ठीक थे। हालांकि राष्ट्रभाषा का विचार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही भारतीय नेताओं के मस्तिष्क को आन्दोलित करने लगा था, फिर भी इसे महात्मा गांधी ने ही स्वातंत्र्य आन्दोलन की तरह एक लोकप्रिय मसला बनाया। विचक्षण पूर्वदृष्टि से उन्होंने यह महसूस कर लिया कि राष्ट्रभाषा का अभाव न केवल राष्ट्रीय अनादर का प्रतीक है बल्कि देश के विकास में भी बाधक है। अतः देश के राजनीतिक जीवन में सक्रिय रूप में दाखिल होने के पहले ही उन्होंने हिब स्वराज में भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा की हिमायत की और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह हिन्दी ही हो सकती है। जब वह देश के स्वातंत्र्य आन्दोलन में भाग लेने लगे तो उनके विचार और निष्कर्ष आये।

महात्मा गांधी यह अनुभव करते थे कि राष्ट्रीय एकता के संवर्धन के लिए एक वास्तविक राष्ट्रभाषा अनिवार्य है।¹ उन्होंने कहा, "मे भाषा का इतना आग्रह इसलिए करता हूँ कि यह राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का एक शक्तिशाली साधन है और जितनी ही दृढ़ता से यह प्रतिष्ठित होगी, हमारी एकता उतने ही व्यापक आधार पर टिकी होगी।"² एक विदेशी भाषा, उदाहरणार्थ अंग्रेजी, भारतीय सन्दर्भ में "अवाम और अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग के बीच एक स्थायी दीवार" खड़ी कर देती है, जो अपने गंतव्य की ओर देश की प्रगति को केवल अवरुद्ध ही करती है।³ महात्मा गांधी ने एक देशी राष्ट्रभाषा के अभाव से

¹ रामधारी सिंह 'दिनकर', राष्ट्रभाषा आन्दोलन और गांधी जी, पटना, १९६८, में उद्धृत, पृ. ४३.

² मो. क. गांधी, पाँदस ऑन नेशनल सर्वेज, अहमदाबाद, १९६१, पृ. ३६.

³ वही, पृ. ४३.

⁴ वही, पृ. ७४.

उत्पन्न होने वाले अनेक अन्य हानिकारक परिणामों को भी नष्ट किया।

यह यह अनुभव करने से कि मिथा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी को बरकरार रखने में भारतीय प्रतिभा और ओज का क्षय हुआ है।' उनका यह आग्रह था कि भारतीय विद्यार्थी अंग्रेजी के माध्यम से मिथा पाने में अपना बहुमूल्य समय बरबाद करना है। अपनी मातृभाषा के माध्यम से वह कहीं कम समय में यही ज्ञान अर्जित कर सकता है। उन्होंने स्वयं अपनी निम्नलिखित पंक्तियों, "अब मैं जानता हूँ कि मुझे अंकगणित, ज्यामिति, बीजगणित, रसायन और ज्योतिष में जितना सीखने में चार वर्ष लगे, उतना मैंने आसानी से एक वर्ष में सीख लिया होता, अगर मैंने उन्हें अंग्रेजी के माध्यम से नहीं बल्कि गुजराती के माध्यम से सीखा होता। विषय को मैं ज्यादा सुगमता और स्पष्टता से समझता। मेरा गुजराती का शब्द-ज्ञान और समृद्ध हुआ होता।" "अगर इसकी जगह मैंने उन बहुमूल्य सात वर्षों को गुजराती भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में लगाया होता और गुजराती के माध्यम से गणित, विज्ञान, संस्कृत और अन्य विषय सीखे होते तो इस तरह प्राप्त ज्ञान में मैं अपने पड़ोसियों को आसानी से साक्षीदार बना सकता। मैंने गुजराती की श्रीवृद्धि की होती। कौन कह सकता है कि अव्यवसाय की अपनी आदत तथा देश और मातृभाषा के प्रति अपने अपरिमित प्रेम के चूते मैंने जनता की सेवा में और अधिक समृद्धिशाली व गुरुतर योगदान न किया होता।"

महात्मा गांधी ने लिखित किया कि अंग्रेजी के प्रति आत्त्यांतिक लगाव का फल यह हुआ कि भारत की 'प्रांतीय भाषाएं' उपेक्षित और 'दरिद्रता का शिकार' हुई हैं जिससे एक सांस्कृतिक संकट और रिक्तता पैदा हो गयी है। किन्तु अंग्रेजी के विरोध ने उन्हें उसकी समृद्धता, महानता और उपयोगिता के प्रति अंधा नहीं बना दिया। उन्होंने लिखा, "...मैं अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी का प्रेमी हूँ। किन्तु मेरा प्रेम विवेकपूर्ण और बुद्धिमत्तापूर्ण है। इसलिए मैं दोनों को वह स्थान देता हूँ जिसके वे पात्र हैं।" उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संबन्धों के लिए अंग्रेजी भाषा के परम महत्व को स्वीकार किया। "उन विशिष्ट भारतीयों के लिए मैं द्वितीय भाषा के रूप में इसका ज्ञान अपरिहार्य मानता हूँ जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश के हितों का प्रतिनिधित्व करना है। मैं अंग्रेजी

१ वही, पृ. २३.

२ मो. क. गांधी, सीडियम ऑफ इंस्ट्रक्शन, अहमदाबाद, १९५८, पृ. ८.

३ वही, पृ. ७.

४ थॉट्स..., पृ. ६७.

५ वही, पृ. ६६.

भाषा को पारवात्य चिंतन और विज्ञानों की दुनिया में भाङ्कने की खुली खिड़की मानता हूँ। इसके लिए भी मैं एक बर्ग अलग कर देना चाहूँगा। उनके माध्यम से भारतीय भाषाओं के जरिये मैं उस ज्ञान का प्रसार करना चाहूँगा जिसे उन्होंने पश्चिम से प्राप्त किया है। किन्तु मैं भारत के बच्चों पर बोझ नहीं सादना चाहूँगा और एक विदेशी भाषा के जरिये उनके मस्तिष्कों के प्रसार को बाधा कर उनकी युवावस्था की शक्ति को नहीं सुखाना चाहूँगा।”

इस प्रकार महात्मा गांधी ने यह दिखाया कि अंग्रेजी द्वारा भारतीय भाषाओं के न्यायोचित स्थान के हड़प लिये जाने का कोई औचित्य नहीं हो सकता। अंग्रेजी को अपना उचित स्थान बनाये रखना चाहिए और भारतीय भाषाओं को उनका अपना स्थान मिलना चाहिए जो कि राष्ट्रीय पुनर्जीवन का धोकर होगा।

गांधी जी के लिए शाब्दिक प्रतिपादन पर्याप्त नहीं था। उन्होंने भारतीय भाषाओं के माध्यम से अद्यतन वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार के तौर-तरीके भी सुभाये। विदेशी भाषाओं से भारतीय भाषाओं में अनुवाद का एक सज्ज और सुयोजित कार्यक्रम होना चाहिए। सबसे बड़ कर बात यह है कि उगुक्त संभावना और पाठ्य पुस्तकों के अभाव से लोगों को हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। एक बार वे पूरी तत्परता के साथ भारतीय भाषाओं में अध्ययन शुरू कर दें तो ये समस्याएँ खुद-ब-खुद हल हो जायेंगी।

इस प्रकार महात्मा गांधी ने यह अकादमि रूप में दिया दिया कि राष्ट्र-भाषा के रूप में एक विदेशी भाषा को बनाये रखना देग के सर्वोच्च हितों में नहीं है और भारतीय भाषाओं की अर्ध-वहसित अवस्था में उभरन समस्याओं को हल कर सकना असंभव नहीं है।

वह यह अच्छी तरह अनुभव करते थे कि भारत में एक देसी राष्ट्रभाषा के सामने अनेक कठिनाइयाँ हैं। भारत एक बहुभाषी देस है जिनमें से अनेक भाषाएँ महान प्रतीत का दावा कर सकती हैं और ज्ञानसार साहित्यिक विद्यन का दम भर सकती हैं। उनमें से किसी एक को प्राथमिकता का स्थान देने से दूसरे भाषाओं में ईर्ष्या और जायज अनइच्छुमिशा पैदा होंदी। महात्मा गांधी ने दिखाया कि ये आर्वाहाएँ निराकार थीं। भारतीय भाषाओं को एक-दूसरे के बरते की जरूरत नहीं, बरिह उन्हें अंग्रेजी भाषा के बरिहकवनों के प्रति कीरव रहना चाहिए। उनकी मुन्न बड़ाई विदेशी अंग्रेजी के निराक है, न कि उव

¹ वही, पृ. ६६-६७

² मोडियम, पृ. ८.

³ पोटल... पृ १५६-५७

देशी और स्थानीय भाषा के विनाश जो प्राथमिकता पाने के बाद भगिनी भाषाओं की उपेक्षक नहीं, 'पूरक' होगी।' ये इसके बाद और अधिक प्रगति तथा श्रीगृष्टि के लिए मुक्त हो जाएंगी।

महात्मा गांधी ने यह प्रतिपादित करके प्रांतीय भाषाओं की अन्य गलत-फहमियों को भी उपशमन कर दिया कि अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त राष्ट्र-भाषा सीखने की उनकी ज़रूरत है जिनका पैना अंतर्प्रांतीय किस्म का हो। दूसरों के लिए यह वैकल्पिक ही होगा। कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि उस पर दूसरों की अपेक्षा 'अतिरिक्त बोझ' डाला जा रहा है। संक्षेप में, महात्मा गांधी ने यह साफ-साफ स्थापित कर दिया कि भारत की एक देशी राष्ट्रभाषा अवश्य होनी चाहिए। उनकी महानता इस तथ्य में निहित थी कि जहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में दूसरे इस विचार पर ऊहापोह में पड़े थे, लिखा या और वक्तव्य दिये थे, वहाँ स्वाधीनता के लोकप्रिय आन्दोलन से इसे महात्मा गांधी ने ही जोड़ा।

जैसा कि पहले लक्षित किया गया है, महात्मा गांधी भारत की राष्ट्रभाषा के बारे में अपने निष्कर्ष पर मौजूदा सदी के पहले दशक में पहुंच गये थे जिस समय उन्होंने हिन्द स्वराज लिखा और हिन्दी को इस सम्मान के पात्र के रूप में सुझाया था। इससे न केवल उनकी विद्याल हृदयता प्रकट होती है क्योंकि वह एक अहिन्दीभाषी क्षेत्र से आये थे, बल्कि उनकी महान राजनीतिक यथार्थ-वादिता भी जाहिर होती है। वह यह समझ सके थे कि सारी भारतीय भाषाओं में हिन्दी ही अपेक्षाओं को पूरा करती है और राष्ट्रभाषा बन सकने की क्षमता रखती है।^१

संख्या की कसौटी का प्रयोग करते हुए उन्होंने यह निदिष्ट किया कि भारतीय भाषाओं में हिन्दी लगभग संपूर्ण उत्तर भारत के लोगों द्वारा बोली और समझी जाती है और इस कारण सबसे बड़े समूह द्वारा प्रयुक्त होने का दावा कर सकती है। साथ ही भारत के अहिन्दी भाषी लोग हिन्दी को आसानी से सीख सकते हैं। इसने इसे भगिनी भाषाओं के साथ सहमेल की एक और सुविधा प्रदान की। किन्तु महात्मा गांधी ने हिन्दी को अपनी ही परिभाषा दी। "मैं उस भाषा को हिन्दी पुकारता हूँ जिसे उत्तर के हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं और जो या तो देवनागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती है।"^२ उन्होंने हिन्दी और उर्दू को दो भाषाएं मानने से इनकार कर दिया। अंतर

^१ वही, पृ. ८२.

^२ वही, पृ. ४, ६, ५३.

^३ वही, पृ. ५.

केवल लिपि का है। अरबी लिपि में लिखी जाने पर वह उर्दू पुकारी जाती है और देवनागरी में लिखी जाने पर वह हिन्दी कही जाती है।^१ महात्मा गांधी ने २० अक्टूबर १९१७ को मरूच में हुए द्वितीय गुजरात शैक्षिक सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में यही परिभाषा पेश की थी।

अगर हम प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत की सामसामयिक राजनीतिक स्थिति को ध्यान में रखें तो हम महात्मा गांधी के कथनों को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। लखनऊ अधिवेशन में पहली बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि एक साथ बैठे थे। अंग्रेजों के खिलाफ संयुक्त मोर्चे की संभावनाएं ज्यादा उज्ज्वल दिखायी पड़ रही थी। इसलिए महात्मा गांधी दोनों सम्प्रदायों के बीच एक स्थायी सेतु के निर्माण के लिए उत्सुक थे और इसी कारण उर्दू को, जिसे मुसलमान अपनी भाषा होने का दावा करते थे, हिन्दी की परिधि में शामिल कर लिया जो राष्ट्रभाषा के रूप में आगे बढ़ने के लिए यत्नशील थी। राष्ट्रभाषा के माध्यम से वह राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा से मुसलमानों की पृथक्कृतावादी प्रवृत्तियों को अवरुद्ध करना चाहते थे। इसके बाद से राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर उनका रुख हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रति उनकी गहरी चिन्ता से प्रभावित रहा; जैसे, १९१८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने हिन्दी को वह भाषा बताया "जिसे उत्तर में हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते हैं तथा जो या तो नागरी या फारसी लिपि में लिखी जाती है। हिन्दी न तो अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ है और न अत्यधिक फारसीनिष्ठ।"^२

प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हो जाने के बाद मुसलमानों ने अंग्रेजों के खिलाफ-खिलाफत आन्दोलन शुरू कर दिया। महात्मा गांधी इस आघात में तिरागण आन्दोलन के प्रचंड समर्थक हो गये कि इस तरह वह ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारत की आजादी की लड़ाई में हिन्दुओं और मुसलमानों को साथ ला सकेंगे। इसलिए उन्होंने राष्ट्रभाषा के सवाल पर मुसलमानों को मर्यादा रियायतें देनी शुरू कीं। इसके फलस्वरूप पहले पहले उन्होंने फारसी और देवनागरी लिपियों को समान दर्जा देने का प्रयास किया।^३ ऐसा उन्होंने इस बात को पूरी तरह जानते हुए किया कि देवनागरी ही जहाँ मिट्टी में जगारा दहरी है तथा अधिसंख्य इसे प्रयोग में लाते और स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से कि देवनागरी के समर्थकों को अवरुद्ध टैम न पड़े, उन्होंने यह कहा कि ब्रह्मण को

^१ वही.

^२ वही. पृ. १०.

^३ वही.

शेनों लिपियां सीखने की जरूरत नहीं। "अधिकारियों को दोनों ही लिपियां जाननी चाहिए।" यही हिन्दुस्तानी मंत्रों की उनकी भावी योजना के बीज पड़े थे।

भाषा समस्या के प्रति महात्मा गांधी के नये दृष्टिकोण में एक स्पष्ट तामी थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता का मसला बहुत व्यापक मसला था और भाषा का मसला अधिक से अधिक उसका एक हिस्सा था। साथ ही, उस समय तक हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या एक पेशीदा राजनीतिक प्रश्न बन चुकी थी और राष्ट्रभाषा के मसले ने भी, उससे नटकी कर दिये जाने पर, राजनीतिक रूप ले लिया जिससे ठंठ दिमाग से, निम्नद्वेग भाव से और विवेकपूर्ण तरीके से सोच सकना मुश्किल हो गया।

यहां से महात्मा गांधी ने अपनी स्थिति बदल दी, हालांकि वह इस बात से इनकार करते रहे कि वह अपनी पहले की स्थिति से कभी हटे हैं।

अभी तक वह हिन्दी को राष्ट्रभाषा बताकर संतुष्ट हो लेते थे, हालांकि उसमें उर्दू भी शामिल थी। अब उन्होंने यह गुहार की कि हिन्दी नहीं बल्कि हिन्दुस्तानी देश की राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। हिन्दुस्तानी को सरल हिन्दी और उर्दू का मिश्रण बताया गया जो न तो अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ हो और न फारसीनिष्ठ।¹ उन्होंने यह स्वीकार किया कि हिन्दुस्तानी का जैसा वह वर्णन करते हैं उस रूप में देश में उसका अस्तित्व नहीं है और वह अभी 'ढल रही है',² और उसकी सावधानी से देखभाल की जरूरत है। लिपि के प्रश्न पर उन्होंने अपने दो-लिपि सूत्र (फार्मूला)—देवनागरी और फारसी—को दुहरा दिया।³ इस प्रकार वह भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के समर्थक से हिन्दुस्तानी के प्रचारक बन गये।

उनके प्रभाव में उन दिनों के देश के सर्वप्रमुख राजनीतिक संगठन, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने १९२५ में अपने कानपुर अधिवेशन में हिन्दुस्तानी को भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया।⁴ उसी अधिवेशन में उनकी प्रेरणा से कांग्रेस ने अपना कार्य हिन्दुस्तानी में करने का भी संकल्प ले लिया।⁵ एक बार निश्चय कर लेने के बाद वह भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दुस्तानी के

¹ वही.

² वही, पृ. १६४.

³ वही, पृ. ८२, ९८.

⁴ वही, पृ. ११४.

⁵ वही, पृ. ९१, १०५.

⁶ वही, पृ. २१-२२.

प्रचार के लिए तन-मन से जुट गये। बहरहाल, उन्होंने हिन्दी के ध्येय को आगे बढ़ाने के लिए कार्यरत सर्वप्रमुख संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन से संबंध-विच्छेद नहीं किया। उन्होंने दूसरे सभी लोगों को अपने विचार में ढालने की कोशिश की। कुछ हद तक वह सफल हुए क्योंकि वह एक बार फिर १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये।^१ उनके मार्ग-निर्देशन में सम्मेलन ने एक प्रस्ताव द्वारा फारसी लिपि में लिखित उर्दू को हिन्दी का एक अंग स्वीकार किया, हालांकि साहित्य सम्मेलन ने देवनागरी को ही अपनी अधिकृत लिपि बनाये रखा।^२ इस प्रकार हिन्दी के समर्थक राष्ट्र के वृहत्तर हितों में महात्मा जी के विचारों के लिए गुंजाइश निकाल लेने को उद्यत थे।

१९३७ में जब कांग्रेस भारत के कई प्रान्तों में सत्ता में आई, उसने शिक्षा संस्थाओं और सरकारी दफ्तरों में हिन्दुस्तानी लागू करने की नीति को क्रियान्वित करने की कोशिश की।^३ इस प्रयोग से उन नतीजों को नहीं निकाला जा सका जिनकी आशा महात्मा गांधी ने कर रखी थी।

यह सम्भव नहीं है कि इतिहास और तर्कों के तथ्यों के विरुद्ध किसी भाषा को गढ़ लिया जाय और उसे जनता को ग्राह्य बना दिया जाय। अब मुसलमान एम. ए. जिन्ना और मुस्लिम लीग के प्रभाव में आ चुके थे और उन्होंने आम तौर पर इसे यह सोच कर ठुकरा दिया कि यह एक ऐसा कार्य है जिसके पीछे हिन्दी स्वयं अपने को प्रतिष्ठापित करना चाहती है। वस्तुतः उम समय तक हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की सम्भावना काफी दूर जा चुकी थी और रियासतों के बावजूद इस बात की आशा नहीं रह गयी थी कि मुसलमान भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा स्वीकार करेंगे। अंग्रेजों से बढ़ावा पाकर वे भारत में बाट कर बसाये गये एक मुस्लिम-बहुल राज्य, पाकिस्तान, का स्वप्न देखने लगे थे और ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रभाषा सम्बंधी कोई खर्चा उन्हें अप्रासंगिक प्रतीत होजायी। मुसलमानों के रवैये की प्रतिज्ञा हिन्दी के अनुयायियों में हुई जो अब सिर्फ एक दुरापहरी तबके को सुग करने के लिए उसे उसके स्वायत्त स्थान से वंचित किये जाने पर रोष प्रकट करने लगे। इस प्रकार महात्मा गांधी की नीतियों ने राष्ट्रभाषा के सवाल पर एक राष्ट्रीय सहमति विकसित करने में सहायक होने की जगह उसके लिए एक और आवेदार पैदा कर दिया।

किन्तु महात्मा गांधी का स्वभाव आत्मीय ने इतिहास दाय देने का नहीं था।

^१ वही, पृ. ३२.

^२ वही, पृ. ४२.

^३ वही, पृ. १९०-९१

२ मई १९४२ को उन्होंने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का संगठन किया जिसके दो सबसे महत्वपूर्ण कार्यकर्ता हुए श्रीमन्नारायण और ताका साहूव कालेत्कर ।^१ किन्तु उसके पहले कि नयन्यापित संस्था अपनी छात्र छोड़ सके, १९४२ का भारत छोड़ो आन्दोलन शिष्ट गया गया भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्य नेताओं समेत महात्मा गांधी जेल में जान दिये गये । जो लोग मुक्त रहे उन्होंने हिन्दुस्तानी के प्रचार का कार्य जारी रखा किन्तु उनकी कोशिशें फलीभूत नहीं हो सकीं । जेल से छूटने के बाद महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा को पुनः क्रियाशील बनाया ।^२ अपनी तत्परता बनाने के लिए उन्होंने १९४५ में हिन्दी माहिर्य सम्मेलन से दस्तीफा दे दिया और इस प्रकार लगभग तीन दशकों का सम्बंध समाप्त कर दिया ।^३

किन्तु महात्मा गांधी ऐसी लड़ाई लड़ रहे थे जिसमें वह दांव हार चुके थे । पाँचवें दशक के आरम्भ से मुस्लिम पृथक्तावाद और भी प्रबल हो गया था । शीघ्र ही देश के विभाजन के जरिये उसका पाकिस्तान का स्वप्न एक स्थापित तथ्य बनने जा रहा था । हिन्दू-मुस्लिम एकता कायम करने का महात्मा गांधी का मिशन असफल हो चुका था । इससे भारत की राष्ट्रभाषा बनने का हिन्दुस्तानी का दावा निराधार हो गया । जब भारत आजाद हुआ, तो देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी उत्तर प्रदेश की राजभाषा स्वीकार कर ली गयी । इस फैसले से गांधी जी को असीम वेदना हुई । इसमें उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के अपने प्रिय आदर्श पर प्रहार होते देखा ।^४ भविष्य का संकेत स्पष्ट था । संविधान सभा ने भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी के पक्ष में मत दिया, हालांकि इसके क्रियान्वयन को उसने भविष्य के लिए स्थगित कर दिया । बहरहाल, हिन्दुस्तानी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का गांधी जी का प्रयास विफल हो गया ।

यहां महात्मा गांधी की भाषा नीति की असफलता के कारणों पर विचार करना प्रासंगिक होगा । यह इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उन कठिनाइयों को ध्यान में नहीं रखा था, या घटा कर आंका, जिनसे उनका मुकाबला पड़ने को था । उनके देशवासियों के एक तबके की अंग्रेजी के प्रति मोहासक्ति थी और उदीयमान राष्ट्रभाषा को अच्छी तरह जड़ जमाये हुए इस न्यस्त स्वार्थ से होड़ लेनी थी । प्रांतीय भाषाओं के समर्थकों का

^१ वही, पृ. ११२.

^२ वही, पृ. ११८-१९.

^३ वही, पृ. १३९.

^४ वही, पृ. १७१-७२.

...पार भय एक और गम्भीर विघ्न था। जिस जमाने में उन्होंने जीवन बिताया वह तथा उनकी योजना की कुछ खासियाँ उनकी असफलता के लिए जिम्मेदार थीं।

जिस समय महात्मा गांधी ने अपनी नीति प्रतिपादित की, उस समय सामाजिक-आर्थिक शक्तियाँ पर्याप्त परिपक्व नहीं थीं। देश में बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के अभाव में औसत नागरिक के लिए इस बात की कोई खास आवश्यकता नहीं थी कि वह नौकरी की तलाश में अपना घर छोड़े। निरक्षरता के ऊँचे प्रतिशत के कारण राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और भी घट गयी। इसलिए देश महात्मा गांधी के आह्वानों को सुन तो सहता था, किन्तु समाज एक राष्ट्रभाषा स्वीकार कर सकने में असमर्थ था।

हिन्दुस्तानी के लिए महात्मा गांधी के आग्रह से मामला और भी उलझ गया। हिन्दुस्तानी दक्षिण वालों के लिए विजातीय थी और उत्तर वाले उससे अपेक्षाकृत कम परिचित थे। अतः एक भाषा 'रचने' की कोशिश का असफल होना लाजिमी था क्योंकि इसे न तो वे लोग पसन्द करते थे जिन्हें वह सुश्रुत करना चाहते थे और न वे जिनके लिए वह उद्दिष्ट थी। जब यह जाहिर हो चला कि हिन्दुस्तानी के आवरण के पीछे महात्मा गांधी उर्दू को 'संरक्षण देने' की कोशिश कर रहे हैं जिससे स्वातंत्र्य संघर्ष के लिए मुसलमानों का समर्थन पा सकें, तथा जब यह अनुभव कर लिया गया कि इन रिपायतों के जरिये मुसलमानों की पृथक्तावादी मांगों को रोका नहीं जा सकता, तब अधिसंख्य भारतीयों में उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया के साथ यह नीति घराशाही हो गयी। महात्मा गांधी ने यह कह कर ऐसे विरोध को रफा-दफा कर देने की कोशिश की कि "सिरों को गिनना सिरों को फोड़ने से बेहतर उपाय कतई नहीं है", किन्तु वह इस बात को समझ सकने में असमर्थ रहे कि अल्पमत के लिए बहुमत की इच्छाओं की उपेक्षा किमी प्रस्ताव को स्वीकार्य बनाने का सबसे अच्छा तरीका नहीं है।

बहरहाल, असफलता से महात्मा गांधी के महान अवदान को छिपाया नहीं जा सकता। उन्होंने ऐसी महत्वपूर्ण समस्या पर पहली बार राष्ट्र भर का ध्यान आकर्षित किया और ऐसी बहम शुरू कर दी जो अब भी जारी है।



गांधी जी, जैसा कि मैंने उन्हें जाना

भदंत आनन्द कौसल्यायन

इस राष्ट्र के जैसे दो राष्ट्र भीत हैं, जैसे ही दो स्वतंत्रता-दिवस भी। २६ जनवरी और १५ अगस्त। एक स्वतंत्रता प्राप्ति का निश्चय करने का दिन, दूसरा साक्षात् स्वतंत्रता प्राप्ति का। यदि हमने २६ जनवरी को पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति होने तक अनवरत संघर्ष करते रहने का अग्रिष्ठान न किया होता, तो १५ अगस्त के दिन हमें स्वतंत्रता की कभी प्राप्ति न हुई होती। इसीलिए २६ जनवरी के दिन का महत्त्व १५ अगस्त से किसी भी तरह कम नहीं।

२६ जनवरी १९४८ को हमने अपने स्वतंत्रता दिवस की, अपने सर्वप्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्र राज्य के स्थापना-दिवस की वर्षगांठ मनायी ही थी कि कुल चार दिन बाद हमें अपने बापू की श्राद्ध-श्रिया में सम्मिलित होना पड़ा—उस बापू की जिसने हमें स्वतंत्रता की शपथ दिलायी, उस पिता की जिसने हमें स्वतंत्रता प्राप्ति की राह दिखायी।

आज हम भी हैं, हमारी स्वतंत्रता भी है, किन्तु हमारे बापू नहीं हैं।

३० जनवरी की मनुहस संध्या को मैं बनारस स्टेशन पर उतरा ही था कि बापू के निधन का समाचार सुना। वह समाचार था कि जंगल की आग थी—दहकती, लहकती, चारों ओर बढ़ी चली जा रही थी।

शायद ही कभी किसी राष्ट्र का बापू इस तरह परलोक सिधारा हो—अपने ही देश में, अपने ही घर्म के एक हत्यारे की गोली का निशाना बना हो। और कहा जाता है कि वह पाखंडी बापू के खुले सीने को गोली का निशाना बनाने से पहले उनको प्रणाम करना नहीं भूला।

सामान्य लोगों का निधन होता है तो उनके संबंधी ही रोते हैं, किन्तु बापू का निधन हुआ तो स्वयं उनके पुत्र देवदास गांधी से भी ज्यादा न सिर्फ उनके अन्य संबंधी, उनके मित्र, उनके उपासक रोये, बल्कि ऐसे लोग भी फूट-फूट कर रोये जो इस गलत विचार के शिकार थे कि गांधी जी उनके शत्रु थे। लाखों ऐसे लोग रोये जिन्होंने बापू को कभी देखा तक नहीं था।

ये लोग क्यों रोये? इतना अधिक क्यों रोये? एक ही उत्तर है—क्योंकि

बापू 'मानवता' के घनी थे और उस शाम मानवता का यह घनी नहीं रह गया।

*

*

*

६ दिसम्बर '४५ की शाम मैं बापू की व्यस्तता का ख्याल कर सेवाश्रम, वर्षा, में उनकी कुटिया के भीतर पैर रखने में हिचकिचा रहा था। आवाज सुनायी दी : "आइये, आइये।"

मैं भीतर चला गया।

"अब आप यहां रहने के लिए आये हैं, एक महीना, दो महीने, तीन महीने, चार महीने, जितना रह सकें, रहें।" दो-चार और बातें हो चुकीं तो बोले, "अच्छा तो भोजन की घंटी बज चुकी है, पहले जाकर भोजन कर लीजिए।"

"भोजन तो मैं नहीं करूंगा बापू, थोड़ा दूध पी लूंगा।"

श्रीमन्नारायण जी (गुजरात के वर्तमान राज्यपाल) को इशारा हो गया और मुझे उनके साथ भोजन के कमरे में जाना पड़ा।

सेवाश्रम में भोजन के समय भोजन न करने पर उसी तरह दूसरे समय या दूसरे दिन तक इंतजार करना पड़ता था जैसे एक रेलगाड़ी के छूट जाने पर फिर दूसरी गाड़ी का इंतजार। समय की पाबन्दी की दृष्टि से देखा जाय तो यह उत्तम व्यवस्था थी, पर समय की पाबन्दी ही तो काफी नहीं होती।

मैं महापांडित राहुल सांकृत्यायन का घनिष्ठ मित्र रहा हूँ, और उनके साथी मुझे विश्वसनीय मानते हैं। मैं कई बार बम्बई के कम्युनिस्ट पार्टी के प्रधान कार्यालय में अतिथि के रूप में टिका था। वहाँ भी खाना निश्चित समय पर खिलाया जाता था, पर अगर किसी कारण कोई मेहमान या खुद उनका कोई साथी निश्चित समय पर खाना नहीं खाता तो उसका खाना परोस कर रख दिया जाता था और अपनी सुविधा के अनुसार भोजन करने के लिए उसकी प्लेट रखी रहती थी। आम तौर से अतिथि को खाना खाने के लिए अकेले नहीं छोड़ दिया जाता था। कोई न कोई उसकी मेजबानी के लिए और उसे जिन्दादिली से भरी बातों में लगाये रहने के लिए जरूर साथ होता। इस तरह अतिथि की गरमाहट किसी न किसी तरह बनाये रखी जाती, अन्यथा खाने में स्वाद नहीं आ सकता था—खात तौर से जाड़े के दिनों में। मैं अपना खाना अपने निश्चित समय पर खाता था और मुझे नहीं याद कि मैंने कब साथियों के साथ बैठ कर खाया हो। फिर भी, जब मैं खाने बैठना तो एक साथी जरूर मेरे साथ होता। मुझे कभी अकेला नहीं छोड़ा गया, यानी इस हालत में नहीं छोड़ा गया कि मुझे खाना हो तो खाऊँ, न खाना हो तो न खाऊँ। अक्सर महेंद्र आचार्य मेरा साथ देने थे। संभव है कि उन्हें एक यह भी काम सौंपा गया हो कि किसी अतिथि की उपेक्षा न होने पाये। संभव है कि यह

मेरी कमजोरी थी, पर मायियों का यह हार्दिक व्यवहार मुझे मेवाघ्राम की भाव-भंग्य समझ भी पावन्दी में डबाता बना।

मेवाघ्राम पड़ोसियों के दूसरे दिन का एक अनुभव मुझे याद आ रहा है। मैं दोपहर का भोजन समाप्त कर चुका था और थोड़ा विश्राम करना चाहता था। किन्तु बिना निर्दिष्ट-समयों का भोजन नहीं करना उन्हें भले ही मिलायत था। भोजन हो चुका तो एक आश्रमवासी ने कहा, "यहाँ का नियम है कि चाहे कोई अनिधि ही हो, भोजन के बाद उभे काम करना पड़ता है।"

"मुझे काम करने में इनकार नहीं, किन्तु मेरा अपना नियम है—भोजन के बाद थोड़ा आराम करने का।"

मैं जाकर लेट गया, आगे घंटे या घंटे भर के बाद मैंने उठ कर पूछा :
"बताइये, क्या काम है ? मैं तैयार हूँ।"

"अब तो काम करने का पंटा समाप्त हो गया।" उत्तर मिला।

दूसरे दिन मैंने ही अपने टाइमटेबल में कुछ परिवर्तन कर लिया—भोजन, काम और तब विश्राम। इस थोड़े से परिवर्तन से मुझे कोई असुविधा नहीं हुई, क्योंकि काम के लिए निर्धारित समय बहुत थोड़ा होता था।

दूसरे दिन दोपहर के भोजन के बाद जब मैं काम के लिए तैयार हुआ तो मुझे 'काम' दिया गया आगे घंटे के लिए किसी दाल को साफ करने का। यह मेरे लिए एक नया पाठ था और मैं समझता हूँ, परिणाम कतई संतोषजनक नहीं रहा होगा। थोड़ी दाल साफ हो पायी थी कि काम की घंटी समाप्त हो गयी। मैंने उस भाई से कहा, "आज सुबह और दोपहर आपने मुझे जैसा भोजन खिलाया है, यदि मुझे इसका विश्वास दिला दें कि आप हमेशा ऐसा ही खाना खिलाते रहेंगे और जैसा 'काम' आपने मुझसे आज लिया है, बदले में केवल उतना ही 'काम' लेते रहेंगे, तो मैं हमेशा यहीं रहने का निश्चय करने के लिए तैयार हूँ।"

हो सकता है कि मेरी मान्यता गलत हो, किन्तु मैंने उस दिन सोचा, और आज भी सोचता हूँ, कि मेरे 'काम' का कम से कम उतना मूल्य तो होना चाहिए था कि मुझे वैसा भोजन खिलाने का कुछ औचित्य सिद्ध किया जा सकता। मुझे ऐसा लगा कि गांधी जी का आश्रम उतना ही अच्छा या बुरा है, जितना किसी साधु का आश्रम। निश्चित समय पर भोजन कर लेने की पावन्दी आदि आश्रम के सदस्यों या अधिक से अधिक आश्रम के अतिथियों के लिए थी। आश्रम में काम करने वाले मजदूरों के लिए ये सुविधाएं सुलभ नहीं थीं। आश्रम में रहने वाले साधु प्रायः उदार दाताओं के दान पर अपना निर्वाह

करते हैं, और गांधी जी के आश्रम में स्थिति भिन्न नहीं थी। सेवाग्राम को भी कुछ जाने-माने धनकुबेरों से सहायता मिलती थी।

हां, तो उस दिन जब मैं दूध पीकर लौटा तो बापू को बुरी तरह व्यस्त पाया। एक के बाद एक समस्या निबटायी जा रही थी। बात कहने का आग्रह करने में अपना ही मन संकोच मानता था। तब तक डा. सुशीला नायर ने सलाह दी—“बापू! अब जैसे भी बने, मौन धारण कर लें।”

“नहीं, यह तो नहीं हो सकता।”

“बापू! स्ट्रेन बड़ जायगा।”

“जिनको समय दिया जा चुका है, उनके साथ बात करना तो धर्म है। वचन भंग कैसे किया जा सकता है?”

दया आती थी... अभी तो रात दस बजे बाद तक समय बंधा हुआ था।

तब तक वह लोगों से मिलने और हरेक से दो-चार बातें करने पर मजबूर थे।

संर को निकले तो श्रीमन्नारायण जी ने ही जैसे-तैसे “राष्ट्रभाषा” के बारे में मेरी बात संक्षेप में वह दो अथवा उसकी भूमिका बाध दी। तब बापू ने मुझसे दो-एक वाक्य कहे और अंत में बोले, “अब आपका आश्रम से जाना नहीं होगा। यहां रहना, नहीं तो मैं बम्बई से लौट कर लड़ूंगा।”

कहने को तो जी चाहा कहुँ कि यदि यही बना रहा, तब तो आपके लिए लड़ने का कोई कारण नहीं रहेगा और यदि चला गया तो आप लौट कर आखिर लड़ेंगे किससे? लेकिन वैसा कुछ न कह कर निवेदन किया, “बापू, आप तो ऐसे भेजवान हैं कि अतिथि को घर पर छोड़ कर स्वयं चले जा रहे हैं।”

बापू जोर से खिलखिला कर हसे और बोले, “हां, मुझे ऐसा ही अतिथि चाहिए जो मेरी गैर हाजिरी में घर को घर ही समझे।”

तब तक बापू को फिर मौन की याद करायी गयी। मैंने भी कहा, “हां, अब आप मौन से ही लें।”

उसके बाद किसी और ने कुछ कहना चाहा। भट्ट मुंह पर अंगुली चली गयी। मेरे मुंह से निकला, “बापू, मौन तो वाणी का ही है न! चलते-चलते कुछ सुनते रहने में तो हर्ज नहीं?” तुरंत दोनों हाथों की दसों अंगुलियां दोनों गालों पर पहुंच गयी। मैं समझता हूँ कि यदि किसी कैमरा-मैन ने उसी समय तबू पर कैमरा ‘दाग दिया होता’ तो उसका वह चित्र आज किसी भी कीमत पर विक सकता था। सचमुच वह अद्भुत मुद्रा थी। मेरे मन में तो वह चित्र अंकित हो ही गया। मेरा यही है कि चित्र के रूप में उठे पाठकों के सन्तुष्य या नहीं कर सकता।

दूसरे दिन प्रातः वर्षा हो रही थी। बापू बरामदे में दो बच्चियों के कपों

पर काम पर दायर रहें। मैं उम्मीद है कि आप भी अपनी नजर पड़ी। दोनों—
हाथ बढ़ें, नगरपाल के लिए। जैसे विनाशनाशक उनका अनिनाश स्वीकार
किया। सोचें, "आप भी इस मण्डली में आ सकते हैं, किन्तु चर्चा बड़ी नवीनी
की बन रही है।"

उस समय किसी की कुछ बात समझायी जा रही थी। मैं भी उबर जा
गया हुआ। मेरे गले हीमें थी जमान कुछ भीनी थी। बापू में न रहा गया।
सोचें, "जगह गांधी है, मेरा हाथकी मन करता है कि आप वहाँ लड़ें न हों,
इस मूके में आते।"

अब बापू को बार मध्य अपनी बातचीत में विराम निहू लगा चुके थे।
मुझे लगा कि एक विराम निहू में नगा दु जो जाकर अनुभवक न होगा।
बोला, "बापू ! मैं तो केवल एक मिनट में एक ही बात पूछने के लिए सड़ा हो
गया था।"

"हां, यह तो मैं समझ ही गया।"

"बापू, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका बम्बई जाने का दिन तो
निश्चित है, लौटने का दिन भी निश्चित है क्या ?"

"देगी, बम्बई में एक नारियल मिलता है, जिसमें पानी नहीं होता। यदि
जिन्ना साहब ने मुझे वैसे ही नारियल दिया, तब तो मैं रविवार को ही लौट
आऊंगा और यदि उसके साथ गुड़ भी दिया और यह भी कहा कि अब कुछ
मसाला भी देंगे, तो जिन्ना साहब मुझे कुछ दिन ठहरा भी सकते हैं।"

मैं समझ गया कि बापू हर संभावना के लिए तैयार थे। महापंडित राहुल
संस्कृत्यायन ने इस बात पर आपत्ति की थी कि मैं गांधी जी को 'बापू' (पिता)
कहता हूँ। मुझे उनको इस तरह संबोधित करने में कोई हानि नहीं दिखायी
दी, हालांकि मैंने इस रूप में उन्हें कभी स्वीकार नहीं किया। और संबोधन
का दूसरा कोई तरीका संभव भी कैसे था, क्योंकि गांधी जी अपनी चिट्ठी-
पत्री तक में अपने हस्ताक्षर नहीं किया। जहाँ तक गांधी जी
की बात है, 'बापू' शब्द जातिवाचक संज्ञा नहीं रह गया था, व्यक्तिवाचक संज्ञा
बन गया था।

बापू के कार्यक्रम की जानकारी मिली और मुझे लगा कि बम्बई में उनको
विलंब होने की काफी संभावना है तो मैंने निवेदन किया, "बापू ! आपने मेरे
सेवाग्राम छोड़ने पर जो प्रतिबंध लगाया है, यदि वह न रहे तो मैं सोचता हूँ
इस बीच मैं भी बम्बई में अपना कुछ काम कर आऊँ।"

"हां, हां, मेरे साथ जाने में एक लाभ है। तीसरे दर्जे का टिकट लेने पर
"हां, हां, मेरे साथ जाने में एक लाभ है। तीसरे दर्जे का टिकट लेने पर
भी अच्छी जगह मिल जाती है।"

अच्छी जगह की क्या बात। गांधी जी और उनके साथ वालों के लिए

लोग नागपुर में ही एक स्पेशल डिब्बा रिजर्व करा देते थे। कोई उसमें घुसने की हिम्मत नहीं कर सकता था। यहाँ में उस डिब्बे में दूध जैसे सफेद तत्वों और बिस्तर लगा दिये गये। उम डिब्बे को "तीसरा दर्जा" सिर्फ उसकी बनावट के आधार पर कहा जा सकता था, अन्यथा वह पहले दर्जे से भी बढ़ कर था। यह अपने आप में एक दर्जा था। वह "गांधी दर्जा" था। दूसरे दिन, मैंने भी "गांधी दर्जा" की सुविधाओं का लाभ उठाया और उसी डिब्बे में बापू के साथ यात्रा की।

देश की राष्ट्रभाषा को लेकर हिन्दी-हिन्दुस्तानी का जो विवाद चल पड़ा था, उम गिनसिले में मुझे अनेक बार बापू के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला, कई वर्षों तक मैं उम "राष्ट्रभाषा प्रचार समिति" का मंत्री रहा जिसके बापू संस्थापक थे और कुछ वर्षों तक सदस्य भी। श्रेष्ठ पुरुषोत्तमदास टंडन द्वारा बापू को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सदस्य बनाये रखने के साथ प्रयत्नों के बावजूद बापू सम्मेलन के सदस्य न रहे, और उन्होंने उसकी सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। आगिर यह "हिन्दी साहित्य सम्मेलन" के सदस्य कौरे और वर्षों बने रहने, जब बापू का आग्रह मान कर टंडनजी भी बापू द्वारा स्थापित उनकी नयी "हिन्दुस्तानी प्रचार समा" के सदस्य बनने के लिए तैयार न थे। अब न बापू हैं, न टंडन जी। दोनों की पुण्यस्मृति ही शेष रह गयी है।

एक दिन की बात है, सुबह बापू ने मुझसे कहा, "स्वामी जी, आपको रेहाना वहिन ने आज शाम यहाँ आश्रम में एक प्रवचन करने के लिए कहा है या नहीं?" मेरा उत्तर था : "हां, किन्तु मैंने रेहाना वहिन से आग्रह किया है कि जब मैं आश्रम में आया तब से आश्रम में बापू का एक भी प्रवचन नहीं हुआ। यह कितनी बड़ी बात होगी कि मुझे बापू का प्रवचन सुनने को मिले।"

गांधी जी जहाँ अन्य बातों में महान थे, वहाँ धार्ष्ण्यता में भी अद्वितीय थे। मुझे ही हार माननी पड़ी और यह स्वीकार करना पड़ा कि शाम को मैं आश्रमवासियों के सामने श्रीलंका और बौद्ध धर्म के बारे में कुछ प्रवचन करूँगा।

उन दिनों सेवामाग में श्री गुलाटी जी रहते थे, जो विविध स्थानों पर होने वाले कांग्रेस अधिवेशनों के इंजीनियर कहे जा सकते थे। मैंने उनसे पूछा, "आज बापू ने मुझसे बचन लिया है कि मैं शाम को आश्रमवासियों के सामने प्रवचन करूँ। उनका समय बहुमूल्य है। मुझे एक अदाजा बता दीजिए कि मैं अधिक से अधिक कितने समय तक बोलूँ?" गुलाटी जी का उत्तर विचित्र था : "आप चाहे जितनी देर बोलते रहिये, बापू तो किसी के प्रवचन में रहते नहीं। प्रवचन करने वाले को प्रवचन करने के लिए कह कर स्वयं चले जाते हैं।"

मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे अहंकार को चोट लगी। मैंने निश्चय किया

कि आज शाम को मैं बापू को अपने प्रवचन में बैठा कर सुनाऊँ। दोपहर भोजन के समय जब बापू के पास ही बैठा अपने सोते के बिछा पात्र में भोजन कर रहा था तो किसी ने पूछा, "बापू ! मसालों को क्या पात्र लोहे का क्यों है ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "उपनिषद् कि कोई लोहा गरि तो सिर की रक्षा भी कर सके।"

मुझे लगा कि अहिंसा के इस केन्द्र में यह हिंसा का गुंथा कैसा ? बाद में सुनना मिली कि आश्रमवासियों की अहिंसा का परीक्षण करने में इलाहाबाद का एक प्रसिद्ध चित्रकार कुदर ही दिन पहले अपना सिर तुड़वा चुका था। बापू के दिमाग में यह प्रकरण ताजा था और कदाचित् उमीनिष् उन्हें मेरे लोहे के बिछा-पात्र का यह अतिरिक्त उपयोग सूझा था।

जब बापू की सुझाव से उत्पन्न विनोद की सरसराहट शांत हुई तो मैंने कहा, "बापू, मैंने सुना है कि आप इनके व्यस्त हैं कि शाम को अपनी प्रार्थना-सभा में भी ज्यादा देर नहीं बैठते। और आप किसी को भी प्रवचन करने के लिए कह कर स्वयं उठ कर चले जाते हैं। मैं एक-दो बातें खास तौर पर आपको ही सुना कर कहना चाहता हूँ, आप बता दीजिए कि बापू आज शाम मेरे प्रवचन में बैठे रहेंगे या नहीं ? यदि न रहते हों तो स्वामस्वाह शाम तक उन बातों का भार क्यों वहन करूँ।"

"अवश्य रहूँगा," बापू बोले, "किसी की अनुपस्थिति में उसकी टीका करना उसकी निन्दा करने के समान है।"

शाम को नियमानुसार "प्रार्थना" हुई। आश्रमवासियों द्वारा दिन भर में काते गये सूत के धागों की गिनती लिखी गयी। मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि बाजार भाव से सारे दिन का काता वह सूत शायद एक रुपये के आस-पास का ही था। कुछ न होने से एक रुपया भी क्या बुरा ! पर किसी न किसी कारण में अपने को यह विश्वास नहीं दिला सका कि एक रुपये की आमदनी के इर्द-गिर्द चलता चरखा कभी समाज में कोई परिवर्तन ला सकता है। सूत का लेखा-जोखा हो चुका तो मेरा प्रवचन आरम्भ हुआ।

मैंने बौद्धधर्म और श्रीलंका के बारे में जैसी मेरी भली-बुरी जानकारी थी, सब उगल दी। प्रवचन समाप्त हुआ। लोग उठ कर जाने लगे। मुझे ध्यान आया कि जो दो बातें खास तौर पर मैं बापू को सुनाना चाहता था, वे बेकही ही रह गयीं ! मैंने बापू को यह बात कह दी। उन्होंने दोबारा लोगों को बैठा दिया। जैसे कोई किसी पत्र पर हस्ताक्षर कर चुकने के बाद पुनश्च लिख देता है, उसी तरह मुझे अपने भाषण में परिशिष्ट जोड़ना पड़ा। मैंने कहा :

"बापू ! श्रीलंका में जहाँ आपके प्रशंसकों की कमी नहीं, वहाँ दो बातों को लेकर आप की टीका भी कम नहीं होती। लोग कहते हैं कि जब कांग्रेस के

हाथ में ताकत न थी, तब गांधी जी ने कहा था कि जिस दिन हमारे हाथ में ताकत आयेगी, हम कलम के एक भटके से बौद्धों का बुद्धगया मंदिर उन्हें सौंप देंगे। बिहार में सात महीने तक कांग्रेस की मिनिस्ट्री रही, तब भी गांधी जी हमें हमारा बुद्धगया मंदिर न दिला सके ! दूसरी बात लोग यह कहते हैं कि जब गांधी जी यहां आये थे तो हमने एक-एक पैसा मांग कर अपनी सामर्थ्य के अनुसार उन्हें काफी धन संग्रह करके दिया था, लेकिन जब यहां मलेरिया का प्रकोप हुआ और हजारों परिवार काल के गाल में चले गये तो गांधी जी ने हमारी कुछ भी मदद नहीं की। हमें सिर्फ उनके सेक्रेटरी का पत्र मिला, जिसमें विश्वास दिलाया गया था कि 'गांधी जी अपने भरसक प्रयत्न करेंगे, वे ऐसा कुछ करने के लिए अपने अन्तःकरण की आवाज का इन्तजार कर रहे हैं।' लोग कहते हैं कि हम मवेशियों की तरह मरते गये। गांधी जी का अन्तःकरण बर्फ की तरह ठंडा बना रहा।"

यह वह मौका था जब महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कुछ सहायता भेजी थी। केवल उन्होंने ही नहीं, राजेन्द्र बाबू ने भी कुछ दवायें श्रीलंका भेजी थीं—कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से नहीं, बल्कि व्यक्तिगत रूप में। किन्तु अगर बापू ने, प्रतीक के रूप में ही सही, कुछ भेज दिया होता तो भारतवासियों और श्रीलंका के निवासियों के संबंधों पर बहुत गहरा असर पड़ता। गंद की बात है कि बापू चूक गये थे।

ऐसा नहीं कि मैंने जो कुछ कहा था, उसका उत्तर बापू के पास नहीं था। बापू के पास उन दोनों आपत्तियों का कुछ न कुछ उत्तर तो अवश्य रहा होगा, किन्तु वह एक भी शब्द न बोले। अच्छा होता कि वह कुछ रहते, किन्तु उन्होंने एक ठंडी सांश ली और उठ कर चले गये।

नहीं कहा जा सकता कि मैंने जो कुछ कहा था, यह मौन उसकी सच्चाई का सूचक था या बापू पूरे मतले को नजरअंदाज कर गये। दोनों बातें संभव हैं।

जो हो, इस देश में गांधीवाद का एक ही सच्चा अनुयायी पैदा हुआ है— और वह थे स्वयं महात्मा गांधी। हमारे जैसे अन्य लोग तो केवल गांधी शताब्दी मना सकते हैं, गांधीवाद को एक भी कदम आगे बढ़ा नहीं सकते।



